हिन्दी गद्य पारिजात

सङ्कलनकर्ता एव सम्पादक

श्री प्रेमनारायण शुक्ल एम० ए०

अध्यापक, डी० ए० वी० कालेज, कानपुर

२००९

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

मूल्य १॥)

मुद्रक—रामप्रताप त्रिपाठी, सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्रकाशकीय

विद्वान् सग्रहकर्ता ने यह सग्रह मध्यमा के विद्यार्थियो के लिए किया है। अपनी भूमिका मे उन्होने हिन्दी गद्य के स० १२०० से अब तक के विकास के सम्बन्ध मे जो कुछ लिखा है उससे उसके आदिकाल के विविध रूपों से इस समय तक के परिमार्जित रूप, मुख्य लेखको तथा आधुनिक युग के उपन्यासो, कहानियो, निबन्धो, समालोचनाओ आदि के बारे मे भी विद्यार्थियो को यथेष्ट ज्ञान-प्राप्ति हो सकेगी। विद्यार्थियो के अतिरिक्त अन्य लोग भी इससे लाभ उठा सकते है।

वैशाखी पूर्णिमा २००९ साहित्य मत्री

विषय-सूची

	भूमिका	१—६६
१	नाटक—महावीरप्रसाद द्विवेदी	६७
२	मजदूरी और प्रेम—अध्यापक पूर्णसिंह	७७
३	करुणा—रामचन्द्र शुक्ल	९४
४	भारतीय साहित्य की विशेषताएँ—श्यामसुन्दरदास	१०८
५	उपन्यास—प्रेमचन्द	११५
६	साहित्य की वेदी—माखनलाल चतुर्वेदी	१२९
७	विश्वभाषा—पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी	१३२
८	साहित्य माधुरी—वियोगी हरि	१४५
९	हिन्दी कविता—हजारीप्रसाद द्विवेदी	१५०
१०	भगवान श्रीकृष्ण—मुशीराम शर्मा	१६४
११	जीवन और काव्य—श्री नारायण अग्निहोत्री	१७१
१२	आधुनिक नारी—महादेवी वर्मा	१७७
१३	पश्चात्ताप—सद्गुरुशरण अवस्थी	१९०
१४	प्रकृति का काव्यमय व्यक्तित्व—शान्तिप्रिय द्विवेदी	१९८
१५	सादा जीवन और उच्च विचार—दयाशकर दुबे	२०४

भूमिका

हिन्दी गद्य का विकास

समस्त विश्व-साहित्य की विभिन्न कृतियो की अनेक समानताओ मे एक समानता यह भी है कि विभिन्न स्थानो की प्रारभिक साहित्यिक कृतियाँ पद्य मे ही ह । प्रत्येक देग के साहित्य मे गद्य का आविर्भाव वाद मे हुआ । साधारणत इस तथ्य की विवेचना मे हम मानव की प्रकृत्ति की ही विगेषता पाते है । मानव-हृदय पद्य मे सगीतात्मकता होने के कारण गद्य की अपेक्षा अधिक रमता है । प्रारभिक युग मे मुद्रणालयो का आविष्कार एव प्रसार नही हुआ था । अत थोडे मे अधिक कह सकने का अवकाग पद्य मे ही था । हमारा अधिकाश साहित्य लिपिबद्ध नही हो सका था । अत उसकी सुरक्षा कठाग्र होने मे ही थी । हम समस्त ज्ञान-राशि को प्राय परम्परागत सम्पत्ति के रूप मे ही हृदयगम कर लिया करते थे । निश्चय ही इस क्रिया के लिए पद्य एक उत्तम साधन था । फलत. हमारा अधिकाश प्रारभिक साहित्य पद्यमय ही है ।

वस्तुत गद्य-साहित्य आधुनिक युग की देन है । उसका अर्थ यह नही है कि हमारे यहाँ प्रारभ मे गद्य बिलकुल था ही नही । आगे चलकर हम देखेंगे कि हिन्दी-गद्य-साहित्य का प्रारभिक रूप क्या था ओर उसने काल-क्रमानुसार किस रूप मे अपना विकास किया । गद्य आधुनिक युग की देन है, इस कथन का तात्पर्य केवल इतना ही है कि इस युग मे गद्य-साहित्य का निर्माण पर्याप्त मात्रा मे हुआ है । हमारा साहित्य पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क मे आया ।

भारत, मे अग्रेजो के प्रभाव के कारण मुद्रणालय का भी प्रचार हुआ। वे लेखक जो अपनी कृतियाँ लिखकर प्रचार के अभाव मे हतोत्साहित हो जाते थे---मुद्रणकला के द्वारा अपने को भी अमर बनाने की साधना म जुट गए। एक विचार थोडे ही समय मे दूर-दूर तक पुस्तको, समाचार पत्रो आदि के रुप मे इतस्तत फैलने लगा। फलत थोडे ही से काल मे गद्य-साहित्य प्रचुर मात्रा मे निर्मित हो गया ।

* * *

हिन्दी गद्य-साहित्य के विकास-क्रम को जानने के लिए हमे हिन्दी के उद्गम के स्वरूप को भी जानना आवश्यक हो जाता है। हिन्दी के प्रारभिक रूप के सबध मे विद्वानो ने अनेक ढग से विचार किया है। साधारणत लोग हिन्दी का उद्गम सस्कृत कह दिया करते है। उनका कहना है कि जिसने सस्कृत पढ ली उसे हिन्दी आ गई। इस कथन का तात्पर्य हम केवल इतना ही समझते है कि सस्कृत और हिन्दी की लिपि एक ही है। दोनो भाषाएँ विशुद्ध वैज्ञानिक लिपि देवनागरी पर ही आधारित है। दोनो भाषाओ की वर्णमाला का स्वरूप एक ही होने के कारण दोनो का परस्पर सबध स्थापित किया जाना नितान्त स्वाभाविक है। परन्तु हिन्दी सीधे सस्कृत से उत्पन्न हो गई---ऐसा मानना भ्रामक है। सस्कृत से हिन्दी तक बनने मे भाषा को अनेक रूपो मे ढलना पडा है। सुविधा के विचार से हिन्दी-भाषा एव हिन्दी-गद्य-साहित्य के विकास-क्रम को हम इस प्रकार भी समझ सकते है---

(१) हिन्दी का विकास काल---(सवत् १२००---१६००)
(२) हिन्दी गद्य का प्रारम्भिक काल---(सवत् १६००---१८००)
(३) हिन्दी गद्य का आधुनिक काल---(सवत् १८००---१९००)
(४) हिन्दी गद्य का प्रगति काल (भारतेन्दु युग)---(सवत् १९००---१९५०)

(५) हिन्दी गद्य का विकसित काल (द्विवेदी युग)—(स
से आज तक)

१—हिन्दी का विकासकाल (सं० १२००–१६००)

ग्यारहवी और बारहवी शताब्दी के आसपास भारत मे शौरसेनी एव मागधी आदि विभिन्न अपभ्रशीय भाषाओ का प्रचार रहा था। फिर उसी समय के लगभग देश मे मुसलमानो के आक्रमण प्रारभ हो गये थे। धीरे धीरे विजेताओ और यवनो ने भारत मे अपनी सभ्यता और सस्कृति की छाप जमा दी। इस प्रकार मुसलमानी सभ्यता और सस्कृति के सपर्क मे आने के कारण देश की भाषा और सामाजिक अवस्था मे भी परिवर्तन होने लगे थे। इधर सस्कृत का प्रभाव धीरे-धीरे देशी भाषाओ पर से दूर होने लगा और अरबी फारसी का देश की भाषा पर रग चढने लगा। राजा शिव-प्रसाद का कथन है —

"सस्कृत की गौरव गरिमा तो हिन्दू साम्राज्य के अस्त होने के साथ ही लुप्त होने लगी थी।"

इधर फारसी को राजदरबार की भाषा बना लिया गया था। इस कारण इसका प्रभाव और अधिक शीघ्रता के साथ देशी भाषाओ पर पडा।

इस मिली जुली भाषा का सर्वप्रथम रूप हमे खुसरो की भाषा मे मिलता है, परन्तु खुसरो की ही भाषा देखने से यह भी ज्ञात होता है कि उस समय दो प्रकार की हिन्दी भाषा प्रचलित थी। एक तो मिश्रित रूप जिसका सकेत हमने ऊपर किया है और दूसरी शुद्ध ब्रज भाषा। खुसरो ने ब्रज भाषा और फारसी मिश्रित उस समय की बोल चाल वाली भाषा, दोनो मे ही रचना की है। खुसरो की मिश्रित बोली को देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उन्होने ने इस प्रकार आज की खडी बोली की जड उस युग मे ही जमाई

थी। इस भाषा की विशेषता यह है कि यह भाषा वास्तव मे आज की खडी बोली के बहुत निकट है। इसके दो एक उदाहरण लीजिये —

चार महीने बहुत चले और महीने थोरी ।
अमीर खेसरो यो कहे तू बता पहेली मोरी ॥

* * *

एक थाल मोती से भरा, सब के सिर पर औंधा धरा ।
चारो ओर वह थाली फिरै, मोती उससे एक न गिरे ॥
(आकाश)

* * *

एक नार दो को ले बैठी। टेढी हो के बिल में पैठी ॥
जिसके बैठे उसे सुहाय। खुसरो उसके बल बल जाय ॥
(पायजामा)

एक गजल देखिये —

वह गये बालम, वह गये नदिया किनारे ।
आप पार उतर गये हम तो रहे अरदारे ।
भाई रे मल्लाहो हमको उतारो पार ।
हाथ की देऊगी मुदरी गले का देऊ हार ॥

* * *

ऊपर के उद्धृत अवतरणो से यह स्पष्ट जाना जा सकता है कि खुसरो की भाषा आज की हिन्दी के कितने अधिक निकट है। जिन शब्दो के नीचे रेखाये है वे खडी बोली के ज्वलन्त उदाहरण है। इस प्रकार इस भाषा का आज की भाषा मे अधिक साम्य बैठता है।

इसी प्रकार उस समय की प्रचलित दूसरी भाषा का दर्शन भी हमे खुसरो की ही कविता मे होता है। यह शुद्ध ब्रजभाषा है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वसाधारण के लिए यह उतनी ग्राह्य नही हो सकी थी

जितनी वह मिश्रित भाषा जिसका उल्लेख पहले किया गया है। इस ब्रज-भाषा मे भी हम वही रूप पाते हैं जिसका पूर्ण सुन्दर स्वरूप हमे आगे चलकर सूर, नन्द, घनानन्द और रसखान आदि की भाषा मे मिलता है। इसके भी कुछ उदाहरण देखिए —

चाम मास वाके नहिं नेक। हाड़ हाड़ मे वाके छेद ॥
मोहि अचम्भो आवत ऐसो। वामें जीव वसत है कैसो ॥

* * *

"सूनी सेज डरावनी लागी, विरह अगिन मोहि डस डस जाये।"

* * *

इसे पढने से हमे ब्रजभाषा का वही माधुर्य मिलता है जिसके लिए वाद के अष्टछापी कवि प्रसिद्ध है। इस प्रकार हम देखते है कि यह वह काल था जव कि हिन्दी का स्वरूप वनने की दशा मे था।

१५ वी शताव्दी तक आते-आते हमे महात्मा कवीर का दर्शन प्राप्त होता है। इन्होने नियमपूर्वक किसी भी भाषा-साहित्य का अध्ययन नही किया था। भ्रमण करने के कारण ये वहुश्रुत अवश्य हो गये थे। इनकी वहुज्ञता इसी पर आधारित है। इनकी भाषा के विभिन्न रूप इनके पद और साखियो मे मिलते है। इनकी भाषा भी जहाँ पर परिमार्जित रूप मे प्रयोग मे आई है वहाँ पर हम देखते है कि उसमे फारसी शव्दो का वाहुल्य है। यथा—

छोड़ वदवख्त तू कुहर की नजर को,
खोल दिल वीच जहाँ वसत हक्का।
अजव दीदार है अजव महबूव है
करन कारन जहाँ सवद सच्चा ॥

* * *

इससे यह पूर्णत सिद्ध होता है कि जव कवीर ऐसे सन्त के काव्य मे भी फारसी का इतना प्रभाव पडा है तो उस समय के पढेलिखे लोगो मे

फारसी का अत्यधिक प्रचलन हुआ होगा। परन्तु ऐसा होना भी हिन्दी के लिए अच्छा ही हुआ, क्योंकि फारसी का अधिक प्रचार होने से धीरे-धीरे फारसी मिश्रित भाषा को एक बड़ा जन-समूह समझने लगा और उससे लाभ यह हुआ कि जो भाषा का वैमनस्य था वह धीरे-धीरे दूर होता गया और फिर उसी का प्रतिफल यह हुआ कि १६ वी और १७ वी शताब्दी मे पूरे देश की काव्य-भाषा व्रज-भाषा बन सकी। इस प्रकार के अपभ्रंश की विभिन्न प्राकृतो से निकल कर, फिर मुसलमानी भाषाओ के सपर्क मे आकर धीरे-धीरे आधुनिक हिन्दी-भाषा का रूप बन गया।

२—हिन्दी गद्य का प्रारम्भिक काल (१६००–१८००)

१६वी शताब्दी के पूर्व तक हमे हिन्दी-गद्य का कोई एक समुचित प्रमाणित ग्रन्थ नही मिलता है। इसका मुख्य कारण यही रहा है कि उस समय तक विभिन्न प्रान्तो का भाषा-विभेद इतनी तीव्रता से चलता रहा था कि कोई भी लेखक यदि किसी ग्रन्थ के लिखने का प्रयास करता भी था तो उसके सम्मुख सबसे पहले भाषा का प्रश्न आ खड़ा होता था, क्योंकि एक स्थान की भाषा को एक निश्चित जन समूह ही जानता था। फिर भी सबसे पहला और प्रामाणिक ग्रन्थ हमे गोस्वामी गोकुलनाथ जी की चौरासी तथा दो सौ बावन वैष्णो की वार्ता मिलते है।

गोकुलनाथ (लगभग १५६८ ई०–'मिश्रबन्धु')

वल्लभाचार्य जी सवत् १५७७ के करीब हुए, उनके पुत्र का नाम विट्ठलनाथ था, जिनके चतुर्थ पुत्र स्वामी गोकुलनाथ जी थे। यह विवरण हमे भक्तमाल पर प्रियादास की टीका से ज्ञात होता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनो वार्ता-ग्रन्थ वैष्णो धर्म प्रचार हेतु ही लिये गये थे, क्योंकि दोनो ग्रन्थो मे कहानियो की भरमार है और प्रत्येक कथा का अन्त इन शब्दो के साथ होता है —

"सो वे ऐसे कृपापात्र होते ।"

हाँ एक विशेष वात यह है कि ये कथाएँ समाज के प्रत्येक श्रेणी के व्यक्तियो से सवधित है । चोर, ठग, लुटेरे, साहूकार, पटवारी, मन्त्री सभी का समावेश उनमे है । परन्तु आचार्य शुक्ल जी ने अपने साहित्य के इतिहास मे इस वार्ता की प्रामाणिकता के प्रति सन्देह प्रकट किया है । इस सवध मे उनका कथन है कि —

"यह वार्ता भी यद्यपि वल्लभाचार्य के पौत्र गोकुलनाथ जी की लिखी कही जाती है पर उनकी नही जान पडती ।"

गोकुलनाथ जी ने ऐसी भापा का प्रयोग किया जैसी भाषा साधरणत धर्मप्रचारक लोग व्यवहार किया करते है । ऐसी भापा का एक विशेष गुण यह होता है कि अधिक से अधिक व्यक्ति उसे समझे और उसका आनन्द उठा सके चाहे व्यक्तिगत रूप से वह शुष्क ही क्यो न जान पडे । प्रत्येक वात को वहुत वढा चढाकर कहा गया है । कही पर भी सकोची प्रवृत्ति लक्षित नही होती । जिस कथन एव तथ्य को चार शब्दो के आश्रय से व्यक्त किया जा सकता था उसके लिए आठ शब्दो की शरण ली गई है ।

भापा मे अरवी-फारसी शब्दो तथा मुहावरो का भी प्रयोग है । इसके कारण वार्ता की भापा मे कुछ सजीदगी तथा सजीवता आगई है 'खत', 'हुकुम', 'वन्दीखाना', 'तकरार' और 'खामी' ऐसे शब्द तथा 'लरिका सग काम पर्यौ है, ताते लरिका को मान राख्यौ चाहियो', 'अकिल मारी गई है' आदि मुहाविरो का प्रयोग इस ग्रन्थ मे यत्र-तत्र मिलता है । साथ ही भाषा पर प्रान्तीय भापाओ का भी प्रभाव कही-कही मिलता है; जैसे गुजराती और मराठी का । परन्तु उसे हम भापा का दोष नही कह सकते है ।

वाक्यविन्यास की एक वहुत वडी विशेषता है सज्ञा शब्द का वार-वार प्रयोग किया जाना । सज्ञा के लिए सर्वनाम का प्रयोग है ही नही ।

इस प्रकार से पुनरुक्ति दोष पाया जाता है। उसका एक सुन्दर उदाहरण हमें 'नन्ददास जी की वार्ता' से मिलता है —

"नन्ददास तुलसीदास जी के छोटे भाई हते। सो तिनकूँ नाच तमासा देखवे को तथा गान सुनने को शौक बहुत हतो सो वा देश भेखूँ एक सग द्वारका पूछी तव तुलसीदास रामचन्द्र जी के अनन्य भक्त हते। जासूँ विनने द्वारका जायवे की नाही कही सो मथुरा सूधे गये।"

—दो सौ बावन वैष्णवो की वार्ता से

इसमे तुलसीदास के लिए बार बार नाम का ही प्रयोग किया गया है। सर्वनाम का नही। इस प्रकार भाषा शैथिल्य अवश्य मिलता है।

गोकुलनाथ जी के गद्य की एक विशेषता यह है कि ये रूपक इतना सुन्दर बाँधते है कि वर्णित वस्तु का एक चित्र सा खिच जाता है। कही पर भी बनावटीपन दृष्टिगोचर नही होता है। उदाहरण देखिये —

"दर्शन करत मात्र जैमल को क्रोध उतर गयो और बुद्धि निर्मल होय गई जैसे पूर्ण सूर्य उदय भय ते कमल-प्रफुल्लित होय है तैसे जयमल को हृदय कमल प्रफुल्लित होय गयो।"

अन्त मे गोकुलनाथ जी के ग्रन्थ की प्रशसा ही करेगे। थोडी बहुत जो त्रुटियाँ उसमे मिलती हे उनका मुख्य कारण इनका धर्मप्रचार का उद्देश्य था। यदि यह साहित्यिक रचना होती तो कदाचित् ये त्रुटियाँ हम न पाते। दो सो बावन वैष्णवो की वार्ता से गद्य का एक उदाहरण देखिये—

"सो श्रीनन्द गाम मे रहतो हतो सो खण्डन ब्राह्मण शास्त्र पढ्यो हतो सो जितने पृथ्वी पर मत हैं सबको खण्डन करतो हतो ऐसो वाको नेम हतो। यही ते सब लोगन ने वाको नाम खडन पाड्यो हतो। सो एक दिन महाप्रभूजी के सेवक वैष्णवन की मडली मे आयो सो खडन करन लग्यो। वैष्णवन ने कही जो तेरी शास्त्रार्थ करनो होवै तो पडितन के पास जा हमारी मडली मे तेरे आवनो का काम नही।

इहाँ खडन मडन नही है। भगवद्वार्ता को काम है। भगवद्वार्ता सुननो होवै तो इहाँ आवो। तोहू वाने मानी नही नित्य आय के खडन करे। ऐसी वाकी प्रकृति हती। फेर एक दिन वैष्णवन को चित्त वहुत उदास भयो। जव वो खडन ब्राह्मण घर मे सुनो हतो तव चार जने वाकुँ मुग्दर लै मारन लगे। तव वाने कही तुम मोकू क्यो मारो हो। तव चार जने ने कही कि तुम भगवद्धर्म खडन करो हो और भगवद्धर्म सर्वोपरि है, सव धर्मन से श्रेष्ठ है।"

* * *

महाराजा जसवन्त सिह जी (सन् १६२६–१६७८)

मारवाड के राजाओ मे राजा जसवन्त सिह का नाम प्रसिद्ध है। आप वडे ही पराक्रमी धीर-वीर राजा थे। साथ ही अपने समय के प्रसिद्ध साहित्य सेवी के नाम से प्रसिद्ध है। शाहजहाँ के आप निकटतम मित्र एव सलाहकार थे। उसका इनसे वडा प्रेम था। जव औरगजेव राजा हुआ तो उसे इनसे वरावर डर लगता रहा और इसीलिए इन्हे कावुल की लडाई के वहाने दूर भिजवा दिया था। रीति विपयक 'भापा भूषण" नाम की एक पुस्तक आपने लिखी थी, तथा वेदान्त सवधी भी कई रचनाये भी आपकी प्रकाशित हो चुकी है।

आपके गद्य मे पुरानेपन का पूरी तरह चलन है। वही पडिताऊपन पर लिखा गया है। एक वात को कई-कई वार दुहराया गया है। हम चाहे तो उसे पुनरुक्ति दोप कहकर भी मान ले, परन्तु वास्तव मे वह दोप नही है। इसका कारण यह है कि इन्हे उस समय की साधारण जनता को कुछ समझाना था। इसके लिए तथा फिर वेदान्त ऐसे विपय को समझाने के लिए अगर पिष्टपेषण भी हो जावे तो यह कोई दोप नही कहा जावेगा। व्रज भापा के प्रारभिक रूप के हमे इसमे दर्शन होते है। 'अस्स, तऊ, जु, कछ, देखि' आदि शब्दो का वाहुल्य है। भापा मे प्रसाद गुण है, परन्तु एक मुख्य विशे-

षता यह है कि आपके राजस्थान मे रहते हुए भी आपकी भाषा मे राजस्थानी की छाप कही पर भी नही आने पाई है। इसका मुख्य कारण उनका दिल्ली से सपर्क भी हो सकता है, जिससे उनकी भाषा मिश्रित रूप की बन गई होगी। अब हम उनकी भाषा का एक उदाहरण देते है—

"वेदान्त विषयक वार्ता"

" बुधि है सी बोध हूँ, तब देखि कै बोध मे अरु ग्यान मे कहा भेद हैं, क्योकि ग्यान कारण है अरु बोध् कारज है, क्यो ज्यो बध्यौ जल अरु चलतो जल, बध्यो है तऊ जल है, और जो चल्यौ है तऊ जल है, और तैसे ज्यो चल्यो ही ग्यान अरु बोध जानि एक अविद्याजु है सु इनतै भिन्न है, अविद्या विषै में है देखि ज्यो कहे है कि बादर चन्द्रमा के आडै आयो सु कछु चन्द्रमा कै आडे नही दिष्ट कै आडै आवै है तैसे ही जु अविद्या कछु बोध मे नाही मीली अविद्या विषै मे है ।"

नाभादास जी (सवत् १६५७ 'आचार्य शुक्ल जी')

आप महात्मा अग्रदास जी के शिष्य तथा विद्वान् व्यक्ति थे। आपका लिखा हुआ भक्त माल जिसकी रचना सवत् १६४२ के पश्चात हुई हिन्दी साहित्य का एक मुख्य ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ मे दो सौ भक्तो का चरित्र छप्पय छन्द मे लिखा गया है, नाभादास जी ने गद्य मे किसी बडी पुस्तक का निर्माण नही किया है। केवल एक 'अष्टयाम' की रचना इन्होने व्रजभाषा गद्य मे की है। इसकी विशेषता यही है कि जिस युग तथा काल मे गद्य की रचना बहुत थोडी होती थी, उस समय भी आपने गद्य साहित्य के सृजन मे योग दिया।

इसकी भाषा शुद्ध व्रजभाषा है, अरबी फारसी शब्दो का प्रभाव इनकी भाषा पर नही पडा है। जैसा कि हम पहले ही विवेचन कर चुके है कि खुसरो, गोकुलनाथ और राजा जसवन्तसिह तीनो की भाषा व्रजभाषा और अरबी-फारसी मिश्रित है, परन्तु नाभादास जी की गद्य की भाषा शुद्ध व्रजभाषा

है। गद्य की शैली ऐसी है जैसी की अधिकतर राज्यो की होती है। इसी के साथ-साथ परवर्ती लेखको का ऐसा पुनरुक्ति दोष भी इनमे हम नही पाते है। यही इनकी मुख्य विशेषताएँ है। अब एक उदाहरण देखिये —

"तब श्री महाराजकुमार प्रथम श्री वसिष्ठ महाराज के चरण छुइ प्रनाम करत भए। फिर अपर वृद्ध समाज तिनको प्रनाम करत भए। फिरि श्री राजाधिराज जू को जोहार करिकै श्री महेन्द्रनाथ दशरथ जू के निकट बैठत भए।"

किशोरदास (१७ वी शताब्दी)

सन् १९१७ के लगभग डा० वेनिस ने १७ वी शताब्दी की एक टीका की खोज की। यह टीका सस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'शृगार शतक' की है। टीकाकार का नाम किशोरदास दिया गया है। वैसे तो इस टीका की भाषा भी बडी ही विचित्र है, और इसका कोई विशेष साहित्यिक मूल्य नही है, परन्तु गद्य साहित्य की परम्परा एव विकास के अध्ययन की दृष्टि से इसका भी अपना एक विशेष स्थान है, वैसे यह केवल पुस्तकालय या हस्त-लिखित पुस्तको के अजायबघर मे रखने की वस्तु है।

भाषा इसकी बहुत त्रुटिपूर्ण है। कुछ ऐसे शब्दो का भी प्रयोग किया गया है जिनके अर्थो का ही पता नही लगता है। फारसी के शब्दो का भी प्रयोग किया गया है। कुछ शब्दो का प्रयोग विचित्र ढग से हुआ है, 'ओझल' के अर्थ मे 'वोझल' तथा 'अरुचिकर' के अर्थ मे 'गयार' शब्द का प्रयोग मिलता है। भाषा मे सजीवता का अभाव है तथा नीरस-सी प्रतीत होती है। इस टीका की भाषा का उदाहरण देखिये—

अर्थ—'अगना' जु है स्त्री सु। प्रेम के प्रति आवेश करि। जु कार्य करन चाहित है ता कार्य विषे। ब्रह्माऊ प्रत्यूह आघातु। अन्त राउ कीवे कहु। कातर। काइरु है। काइरू कहावै असमर्थ। जु कछु स्त्री करयौ

चाहै सु अवस्य करहि। ताको अन्तराउ ब्रह्मा यहै न कर्यौ जाइ और की कितीक बात। जैसे एक कथा भागवत विषे है। जु एक समय कस्यपु सन्ध्या विषे सन्ध्या के ईश्वर को सुमिरन करत वैठे हुते। तव इतने वीच कस्यप की स्त्री दिति कस्यप के आगे ठाढी भई, ठाढे ह्वै करि कहन लगी कि अहो प्राणेस्वर कस्यप। देपहु अदितिहि आदि दै जितीव मेरी सव सपत्नी है सुतिनि सपत्नी न के पुत्रनि को मुषु देषत मेरे परमु सतापु होत है। तव यह सुनि कस्यप यह विचारी। कि स्त्री की सगति अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष होतु है।"

देवीचन्द (सवत् १९४४ के आस पास)

आपने 'हितोपदेश' नामक एक ग्रन्थ की रचना की है। आपको हम गोकुलनाथ और इशाउल्ला खॉ के वीच के लेखको मे से मान सकते है। आपका यही मुख्य महत्व है कि १७ वी शताब्दी से १८ वी शताब्दी के अन्त तक और कोई गद्य का ग्रन्थ उपलब्ध नही होता है, लिखे भले ही गये हो। परन्तु अभी तक एक भी प्रकाश मे नही आया है। १७ वी शताब्दी से १८ वी तक की विकास-धारा का अध्ययन करने मे देवीचन्द जी का हितोपदेश एक विशेप काम की वस्तु है।

इनकी भापा मे वह शैथिल्य नही है जो गोकुलनाथ जी की भाषा तथा उनके वाद के कुछ लेखको मे पाया जाता है। पुनरुक्ति दोप का भी अभाव ही है। तथा एक ही वाक्य मे एक सज्ञा का वार-वार प्रयोग भी नही किया गया है। भाषा मे प्रवाह है तथा वाक्य-विन्यास भी सुन्दर है। हाँ, शैली कुछ परिपक्व अवस्था तक नही पहुँच सकी है, इसी कारण लिखते-लिखते वीच में रुक से जाते है। एक उदाहरण देखिये—

"एक नन्दक नाम राजा ताकै चानायक नाम मन्त्री। सरे राज काज को अधिकारी। तहाँ एक दिन राजा मन्त्री सहित सीकार गयो। तहाँ

राजा काहूँ जीव पिछै मन्त्री सहित दौरे। सेना से विछुर परै तब तह। दुपहर के समै त्रपा लागी। तव एक वृक्ष के झझ मे उतरे। तहाँ पानी की भरी वावरी देखी। तव राजा घोडे से उतर पानी पीवन गयो। जल पीयो तहाँ एक पाहन मे लिख्यौ देखो। जो राजा और मन्त्री दोयन मे तेज वरावर होय तो लिछमी दोयन मे एक को छोडे। तव राजा यह लिख्यो पढ वाके अच्छर ऊपर गार लपेटी। आप वाहिर आयो। तव मत्री पानी पीवन गयो। आगे देखै तो पाहुन के गार लागी है। यै नई सी लागी है। तब पानी धोय अरू लिखत वाँच्यो। तव जान्यौ राजा मोसो द्रोह आचरयो है। और राजा खेद कर एकान्त मे सूतो है, तब मन्त्री राजा को मार्यौ है।

३—हिन्दी गद्य का आधुनिक काल (संवत् १८००–१९००)

वास्तव मे यदि देखा जावे तो इसी समय से हिन्दी गद्य के विकास मे एक गति और सुव्यवस्था आई। इसका मुख्य कारण अग्रेजो का आगमन और मुद्रणालयो का प्रचार रहा है। इस युग के महारथी इशा, सदल, लल्लूलाल और सदासुखलाल हुए है। वास्तव मे हिन्दी गद्य की नीव डालने का श्रेय इन्ही महानुभावो को है। परन्तु इनके कार्य को भी हम दो वर्गो मे विभाजित कर सकते है, एक वर्ग मे तो सदल मिश्र और लल्लूलाल जी आते है, जिन्होने जो कुछ भी लिखा अध्यापक गिलक्राइस्ट की आज्ञा तथा फोर्ट विलियम के सरक्षण मे रहकर लिखा। दूसरे वर्ग मे इशा और मुन्शी सदासुखलाल आते है। ये दोनो ही व्यक्ति मनमौजी थे। स्वच्छन्द प्रकृति के होने के कारण इनके गद्य मे पूर्ण रूप से प्रवाह मिलता है, कही पर भी वाँध परिलक्षित नही होता है। दूसरी ओर इनके गद्य मे जो सजीवता और नवीनता है वह कालेज द्वारा प्रसारित भापा के लेखको मे नही पाई जाती है।

सैयद इशाअल्लाह खाँ

इनके पिता का नाम मीर माशाअल्लाह खाँ था। प्रारभ मे आपकी शिक्षा-दीक्षा उसी प्रकार की हुई जैसे कि एक धनाढ्य कुल के पुत्र की होती थी। वस्तुत इनका जन्म एक प्रकार से लक्ष्मी की गोद मे ही हुआ था।

कविता की ओर इनका रुझान वचपन से ही था, इसीलिए वडे होकर ये कविता करने लगे। पहले आप दरबारी शायर वनकर दिल्ली गये। वहाँ थोडे दिन रहने के पश्चात लखनऊ नवाव आसफुद्दौला, के दरवार मे चले आए। वास्तव मे आप वडी रँगीली तवियत के व्यक्ति थे और इसीलिए अपनी जिन्दादिली के लिये लखनऊ मे आपने पर्याप्ति प्रसिद्धि पाई।

इशा की भाषा न तो सस्कृत पूर्ण हिन्दी है, न अरवी फारसी से प्रभावित है। उन्होने इस वात की स्वय कसम खाई थी—"जिसमे हिन्दवी की छुट और वोली का पुट न मिले, तव जाके मेरा जी फूल की कली को रूप मे खिले।" दूसरी इशा की शैली भी अपनी स्वय निर्मित है। इसके लिए भी हमे साधुवाद देना ही पड़ेगा। मुसलमान होते हुए भी, और इतना अधिक मुसलमानों के सम्पर्क मे रहते हुए भी इशा इतनी सुन्दर भाषा लिख सके, यह उनकी महत्ता ही है।

इनकी भाषा का सवसे वडा गुण रसीलापन, रगीनपन और जिन्दा-दिली है। भाषा फुदकती और उछलती हुई सी चलती है। जैसा कि एक स्थान पर आचार्य शुक्ल जी ने लिखा है "अपनी कहानी का प्रारम्भ ही उन्होने इस ढग से किया है जैसे लखनऊ के भाँड घोडा कुदाते हुए महफिल मे आते है।" इशा की भाषा मे हास्य रस की झाँकी भी हमे मिलती है। प्रो० आजाद के शव्दो मे अगर मै कहूँ, इनके अल्फाज मोती की तरह रेशम पर ढलकते है। "इनके कलाम का वन्दोवस्त आरगन वाजे की कसावट

रखता है।" इनके साहित्य की लिपि उर्दू ही रही है, परन्तु फिर भी भापा हिन्दी के अधिक निकट है।

इशा की भाषा का एक उदाहरण देखिए—

"डोल डाल एक अनोखी बात का"

"एक दिन वैठे वैठे यह वात अपने ध्यान मे चढी कि कोई कहानी ऐसी कहिए की कि जिसमे हिन्दी की छुट और किसी वोली की पुट न मिले, तव जाके मेरा जी फूल की कली के रूप मे खिले। वाहर की वोली और गॅवारी कुछ उसके वीच मे न हो। अपने मिलने वालो मे से एक कोई वडे पढे लिखे, पुराने धुराने, डाग, वूढे घाव यह खटराग लाये। सिर हिलाकर, मुँह थुथाकर, नाक भौहे चढाकर, आँखे फिराकर लगे कहने—यह वात होती दिखाई नही देती। हिन्दवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो।"

मुशी सदासुखलाल 'नियाज' (संवत् १८०३-१८८१)

आप दिल्ली के रहने वाले थे। आप उर्दू और फारसी के अच्छे ज्ञाता थे। थोडे दिनो तक कम्पनी की नौकरी मे भी रहे, फिर छोडकर भगवद् भजन मे समय व्यतीत किया। 'मुतखवुत्तवारीख' से आप के वारे मे पर्याप्त ज्ञान होता है। मुशी जी ने कुछ उपदेगात्मक ढग के लेख लिखे थे, जो अव पूर्ण रूप से नही मिलते हैं।

आपकी भापा स्वतत्र प्रकृति की है। किसी के आदेग से आपने साहित्यिक रचना नही की थी, इस कारण भापा मे पर्याप्त सजीवता है। पडिताऊपन की भापा है, जैसी भापा का प्रयोग साधारणत कथावाचक लोग किया करते हे, उसका ही प्रयोग हमे इसमे मिलता है। आप का लिखा हुआ 'सुखसागर' नामक एक ग्रन्थ मिलता है। सस्कृत गव्दो का भापा मे यत्र-तत्र पुट मिलता है। आपकी भाषा उर्दू के प्रभाव से पर्याप्त

दूर है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि मुशी जी ने सर्वप्रथम हिन्दी को साहित्यिक रूप देने का प्रयत्न किया था। उनकी भाषा का एक उदाहरण देखिये–

"इससे जाना गया कि सस्कार का भी प्रमाण नही, आरोपित उपाधि है। जो क्रिया उत्तम हुई तो सौ वर्ष मे चाण्डाल से ब्राह्मण हुए और जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो वह तुरन्त ही ब्राह्मण से चाण्डाल होता है। यद्यपि ऐसे विचार से हमे लोग नास्तिक कहेगे, हमे इस बात का डर नही। जो बात सत्य हो उसे कहा चाहिए, कोई बुरा माने कि भला माने। विद्या इस हेतु पढते है कि तात्पर्य इसका (जो) सतोवृत्ति है, वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप मे लय हूजिए। इस हेतु नही पढते है की चतुराई की बाते कहके लोगो को बहकाइये और फुसलाइये और सत्य को छिपाइये, व्यभिचार कीजिये और सुरापान कीजिये।"

सदल मिश्र

आप बिहार के रहने वाले थे। आप भी कलकत्ता के फोर्टविलियम कालेज़ मे अध्यापक के पद पर काम करते थे, उक्त कालेज के अधिकारियो की आज्ञा से आपने भी लल्लूलाल जी की भाँति ही कुछ गद्य की पुस्तको का निर्माण किया, जिनमे 'नासिकेतोपाख्यान' मुख्य है।

आपकी भाषा मे लल्लूलाल जी की तरह ब्रजभाषा की ही भरमार नही है। वह आज की खडी बोली के कुछ अधिक निकट है, यद्यपि ब्रजभाषा तथा पूरबी दोनो के रूपो का दर्शन हम इनकी भाषा मे करते है 'फूलन्ह के बिछौने', 'चहुँदिसि', 'इहा', 'मितारी', 'जुडाई' आदि शब्द यत्र-तत्र मिलते है। वस्तुत भाषा के क्षेत्र मे लल्लूलाल जी से अधिक आप का महत्व है। मिश्र जी की भाषा आज कल की खडी बोली का अधकचरा रूप है। आपकी वाक्य रचना बडी सुसम्बन्धित एव परिमार्जित है। कही पर भी तोड-मोड तथा कटुता परिलक्षित नही होती है। आपकी भाषा मे मुहावरो

का भी यथा स्थान समुचित प्रयोग हुआ है। जैसे "हर्ष से दूनी हो," "लडकई से आज तक सुग्गा सा पढाया" आदि। मिश्र जी की भाषा का गठीलापन और रचना-सौष्ठव विशेष महत्वपूर्ण है जो इस युग के लेखको मे प्राय कम ही मिलता है। एक उदाहरण देखिये—

"इस प्रकार से नासिकेत मुनि यम की पुरी सहित नरक का वर्णन कर फिर जौन जौन कर्म किए से जो भोग होता है, सो सब ऋषियो को सुनाने लगे कि गौ, ब्राह्मण, माता, पिता, मित्र, वालक, स्त्री, स्वामी, वृद्ध, गुरु इनका जो वध करते है, वो झूठी साक्षी भरते झूठ ही कर्म मे दिन रात लगे रहते है, अपनी भार्या को त्याग दूसरी स्त्री को गाहते, औरो की पीडा देख प्रसन्न होते है और जो अपने धर्म से हीन, पाप ही मे गडे रहते ह, माता पिता की हितवात को नही सुनतै, सब से वैर करते है ऐसे जो पापी जन है सो महा डेरावने दक्षिण द्वार से जा नरको मे पडते है।"

लल्लूलाल जी (संवत १८२०-१८८२)

आप आगरा के निवासी थे। जाति के गुजराती ब्राह्मण थे। आप संस्कृत के विद्वान तो न थे, परन्तु आप को उर्दू, अरवी, फारसी और हिन्दी का अच्छा ज्ञान था। संवत १८६० मे आपने श्री गिलक्राइस्ट की आज्ञा से 'प्रेम सागर' नामक ग्रन्थ लिखा। आपने अपने ग्रन्थ मे उर्दू फारसी के शब्दो के बचाने का पर्याप्त प्रयत्न किया है। इन्होने जो कुछ भी लिखा है वह आदेशानुसार लिखा है। इसलिए भाषा मे वह सजीवता नही है जो सदल मिश्र की भाषा मे मिलती है। प्रेम सागर के अतिरिक्त आपने 'सिंहासनवत्तीसी', 'वैताल पचीसी', 'शकुंतला' नाटक, माधोनल, की रचना की है। आपने 'लालचन्द्रिका' नाम से विहारी सतसई की टीका, भीलिखी है।

आपकी भाषा की प्रमुख विशेषता यह है कि उसमे उर्दू के शब्द नही

आ पाये है। कही पर तो इन्हे इसके लिये वडा प्रयत्न करना पडा है, और शव्दो को तोडा-मरोडा भी गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि आपने उर्दू शव्दो का प्रयोग न करने की कुछ कसम सी खा ली थी। आपकी भापा मे पडिताऊपन तथा कथावाचको की भाषा की छाप के साथ-साथ यत्र-तत्र उसमे कवित्वमयता भी परिलक्षित होती है। एक उदाहरण देखिये—

"इस धूम धाम से पावस को आते देख, ग्रीप्म खेत छोड अपना जी ले भागा। तव मेघ पिया ने वर्षा, पृथ्वी को सुख दिया। उसने जो आठ महीने पति के वियोग मे योग किया था तिसका भोग कर लिया।"

आपके गद्य मे वह कसाव नही मिलता है जो परिष्कृत गद्य का एक गुण कहा जाता है। वाक्य का प्रत्येक शव्द उखडा-उखडा-सा प्रतीत होता है। कवित्वमय होने के कारण कही-कही पर अनुप्रासो की तो लडी-सी लगा दी गई है।

इनके गद्य मे हमे वह शैली नही मिलती है जिसके द्वारा प्रत्येक प्रकार के साहित्य की रचना की जा सके। इनका गद्य तो गद्य और पद्य का एक मिश्रित रूप-सा वनकर रह गया है। हम इन्हे 'लल्लूलाल जी के गद्यका प्रचारक' न मानकर यह मान सकते है कि इन्होने उस युग मे, जव कि गद्य की ओर लेखको का झुकाव वहुत कम था, गद्य की रचना करके आने वाली पीढी के लिए एक आधार भूमि-सी प्रस्तुत कर दी और इसका श्रेय लल्लूलाल जी को पूर्णत है। इनकी गद्य-शैली का एक उदाहरण देखिये —

"ऊषा वर्णन"

"महाराज। जिस काल वाला वारह वर्प की हुई तो उसके मुख चन्द्र की ज्योति देख पूर्णमासी का चन्द्रमा छवि छीन हुआ, वालो की श्यामता के आगे अमावस्या की अधेरी फीकी लगने लगी उसकी चोटी सटकार्ड

लख नागिन अपनी केंचली छोड सटक गई। भौंह की वॅकाई निरख धनुप धकधकाने लगा, आँखो की वडाई चचलाई पेख मृग-मीन खजन खिसाय रहे। नाक की निकाई, निहार तिल फूल मुरझाय गया। ऊपर के अधर की लाली लख विम्वाफल बिलबिलाने लगा, दाँत की पाँति निरख दाडिम का हिया दड़क गया। कपोलो की कोमलता देख गुलाव फूलने से रह गया। गले की गोलाई देख कपोत कलमलाने लगा। कुचो की ओर निरख कमलकली सरोवर मे जाय गिरी। उसकी कटि की कृशता देख केशरी ने वनवास लिया। जाँघो की चिकनाई देख केले ने कपूर खाया; देह की गुराई निरिख सोने को सकुच भई और लवा मुँह चोर हुआ। कर पद के आगे पद्म की पदवी कुछ न रही। ऐसी वह गज गामिनी पिकवयनी, नववाला यौवन की सरसाई से शोभायमान भई, जिसने इन सवकी शोभा छीन ली।"

इन चारो लेखको मे सवसे प्रमुख प० सदल मिश्र जी है, वास्तव मे इनका गद्य आधुनिक हिन्दी गद्य के अधिक निकट है, इसमे सदेह नही है कि इनके गद्य मे अरवी-फारसी के शब्दो का प्रयोग हुआ है, और भापा कुछ व्रज, अरवी और फारसी का मिश्रित रूप-सा है। आचार्य शुक्ल जी ने भी अपने इतिहास मे इसी प्रकार का मत प्रकट किया है—

"गद्य की एक साथ परम्परा चलाने वाले उपर्युक्त चार लेखको मे से आधुनिक हिन्दी का पूरा-पूरा आभास मुशी सदासुख और सदल मिश्र की भापा मे ही मिलता है। व्यवहारोपयोगी इनकी ही भापा ठहरती है।"

फिर इसके पश्चात इधर राजा शिवप्रसाद के समय तक कोई भी गद्य की साहित्यिक रचना हमे देखने को नही मिलती है। केवल एक पुस्तक का पता लगता है जो राजस्थानी पद्यो मे पहले लिखी गई थी और फिर

जिसका खडी वोली की गद्य मे जटमल नामके किसी लेखकने सवत् १६८० मे अनुवाद किया था, उसकी भाषा का उदाहरण देखिये—

"गोरा वादल की कथा गुरु के वस, सरस्वती की मेहरवानी से पूरन भई। तिस वास्ते गुरु कूँ व सरस्वती कूँ नमस्कार करता हूँ। ये कथा सोलह मं अस्सी के साल मे फागुन सुदी पूनम के रोज वनाई। ये कथा मे दो रस है— वीररस व सिगार रस है,सो कथा मोर छडो नाव गाव का रहनेवाला कवेसर।'

इसके वाद का हिन्दी गद्य जो हमे मिलता है उसके प्रचारक और प्रसारक ईसाई पादरीगण थे। उसी समय के लगभग ईसाई मिशनरियो ने सिरामपुर मे एक छापाखाना खोला, जिसका उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार था। इस काल के ईसाई पादरियो ने कई पुस्तको का हिन्दी मे अनुवाद किया। स्वय विलियम केरे ने वायविल का हिन्दी मे अनुवाद किया। इन लोगो की भाषा का आधार लल्लूलाल जी तथा सदासुखलाल जी की भाषा रही है। ईसाई गद्य लेखको की भापा मे भी अरवी-फारसी शव्दो का वहुत कम प्रयोग हुआ है। हॉ लल्लूलालजी वाली व्यास-प्रधान शैली का प्रयोग इस भाषा मे नही मिलता है, फिर भी यह ग्रामीण जनता के अधिक निकट है और ग्रामीण शब्दो का यत्र-तत्र प्रयोग भी वडे सुन्दर ढग से मिलता है। ईसाइयो का मुख्य उद्देश्य धर्म का प्रचार था, उनकी इस भाषा को देखने से यही सिद्ध होता है कि अधिकाश जनता इस भाषा को ही अधिक समझती और मानती थी, अरवी-फारसी शव्दो का प्रयोग अधिकाशत शिष्ट समाज मे ही अधिक होता होगा, मध्यम वर्ग मे नही। 'कमरवन्द' के स्थान पर 'पटुका' और 'तक' के स्थान पर 'लौं' का प्रयोग इनमे प्राय मिलता है। एक उदाहरण देखिये—

"तव यीशु योहन से वपतिस्मा लेने को उस पास गालील से यर्दन के तीर पर आया। परन्तु योहन यह कह के उसे वर्जने लगा कि मुझे आपके हाथ से वपतिस्मा लेना अवश्य है और क्या आप मेरे पास आते है। यीशु ने

उसको उत्तर दिया कि अब ऐसा होने दे क्योंकि इसी रीति से सब धर्म को पूरा करना चाहिए।"

४—हिन्दी गद्य का प्रगति-काल(भारतेन्दु-युग)(सं० १९००-१९५०)

इस काल तक आते आते हिन्दी की एक सुनिश्चित शैली तो नही बन पाई थी, परन्तु गद्य लिखने की एक परिपाटी-सी बन गई थी। इसी के साथ इस युग को साहित्य के एक ऐसे महारथी का सुयोग मिला जिसने हिन्दी गद्य-साहित्य को उत्कर्ष की जिस सीमा पर पहुँचाया उसके लिए साहित्य प्रेमी चिर ऋणी रहेगे। पचास वर्ष तक साहित्य क्षेत्र मे उसका अपना स्थान बना रहा और इस युग का नाम भी हमे उसी के नाम पर ही देना पडा है। परन्तु उसका विवेचन करने से पहले दो विद्वानो के नाम और आते है जिन्होने अपनी बुद्धि तथा भावज्ञता से हिन्दी गद्य-साहित्य के प्रसार मे बडी सहायता की थी। वे है राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द तथा राजा लक्ष्मण सिह। इन दोनो राजाओ का साहित्य क्षेत्र मे अपना विशिष्ट स्थान है। दोनो ही दो विशेष शैलियो का सपादन करने वाले थे। इसमे सन्देह नही कि दोनो ही ने हिन्दी गद्य की अभिवृद्धि के लिए प्राण पण से चेष्टा की। और इसके लिए वे हमारे आदर के पात्र भी है।

राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द (१८८०-१९५२)

राजा शिवप्रसाद सवत् १९१३ मे शिक्षा-विभाग मे इन्स्पेक्टर के पद पर नियुक्त हुए, उसी समय से उनके मन मे यह भावना बन गई कि किसी प्रकार हिन्दी की उन्नति करनी चाहिए। हिन्दी की गिरती हुई अवस्था को देख कर उनका हृदय बौखला उठता था। हिन्दी प्रचार के हेतु उनका एक निश्चित सिद्धात था।

प्रत्येक काल मे गद्य के क्षेत्र मे दो धाराये चलती रही है, एक तो अनुदार कही जा सकती है और दूसरी उदार। प्रारभिक काल मे ही एक के

पोपक तो लल्लूलाल जी थे, जिन्होने अरवी-फारसी के शव्दो का पूर्ण वहि-ष्कार किया, दूसरी ओर हमारे सदल मिश्र जी आते है जिन्होने मिश्रित भाषा को ही अधिक प्रश्रय दिया है। इसी प्रकार का योग राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मण सिह के साथ मिलता है। राजा लक्ष्मणसिह तो शुद्ध हिन्दी के प्रयोग के पक्षपाती थे और दूसरी ओर हमारे राजा शिवप्रसाद जी उर्दू मिश्रित हिन्दी के प्रयोग को अधिक समीचीन समझते थे। यही वात हम आज के युग मे भी पाते है। एक ओर तो स्व० प्रसाद जी की भाषा है और दूसरी ओर प्रेमचन्द जी की। इस प्रकार मे शिवप्रसाद जी की भाषा उर्दू, अरवी, फारसी मिश्रित हिन्दी है, इसकी लिपि केवल नागरी है और उसका झुकाव उर्दू की ओर अधिक है। इसका एक विशेप कारण भी रहा है। शिव प्रसाद जी ने देखा कि उस युग के लिए यह आवश्यक है कि उर्दू मिश्रित हिन्दी का प्रयोग हो क्योकि उस समय शिक्षित वर्ग की वही भापा थी। राजा साहव का भापा के सवध मे अपना विशेप मत था जिसका प्रतिपादन करते हुए उन्होने 'भापा का इतिहास' नामक लेख में लिखा है —

"हम लोगो को जहाँ तक वन सके चुनने मे उन शव्दो को लेना चाहिए जो आम फहम और खास पसन्द हो अर्थात् जिनको ज्यादा आदमी समझ सकते है। ओर जो यहाँ के पढे लिखे, आलिम फाजिल, पडित विद्वानो की, वोलचाल मे छोडे नही गये है। और जहा तक वन पडे हम लोगो को हर्गिज गैर मुल्क के शव्द काम मे न लाने चाहिए और न सस्कृत की टकसाल कायम करके नये नये ऊपरी शव्दो के सिक्के जारी करने चाहिए जव तक कि हम लोगो को उनके जारी करने की जरूरत न सावित हो जाय अर्थात् यह कि उस अर्थ का कोई शव्द हमारी जवान मे नही है या जो है वह अच्छा नही है, या कविताई की जरूरत या इल्मी जरूरत या और कोई जरूरत सावित न हो जाय।"

इसी एक उदाहरण से हम यह बात देख सकते है कि राजा साहब अपने सिद्धात का प्रतिपादन किस खूबी से करते है। साथ ही इस उदाहरण से यह भी स्पष्ट है कि 'इल्मी जरूरत' और 'आम फहम' आदि शब्दो का प्रयोग करके वे अपनी भाषा को कहाँ तक सर्वसाधारण की भाषा बना पाये है।

राजा साहब सरकारी नौकर होने के कारण हिन्दी की विरोधी शक्तियो का पूरी तरह से विरोध तो नही कर सकते थे, परन्तु वे देवनागरी लिपि के प्रचार का प्रयत्न करते अवश्य रहे, उन्होने स्वय कहा था—

"If we cannot make court character which is unfortunately Persian, universally used to the exclusion of Devanagri, I do not see why we should attempt to create a new language?"—

(इतिहास तिमिर नाशक भाग १, की भूमिका से)

परन्तु वे भाषा के क्षेत्र मे यथावकाश अरबी-फारसी का प्रयोग समीचीन भी मानते थे और उसको इन्होने कई बार स्वीकार भी किया है। उनका कथन है —

"I may be pardoned for saying a few words here to those who always urge the exclusion of Persian words even those which have become our household words from our Hindi books and use in their stead Sanskrit words quite out of place and fashion or those coarse expressions which can be tolerated only among a rustic population :

(इतिहास तिमिरनाशक भाग १ की भूमिका से)

आगे चलकर वे फिर एक स्थान पर कहते हैं—

"Persian words such as A'tish, Ma'ruf, Shitab Zambur, Sardar, Koh etc have been used by first Hindi author (as I at least regard him) Chand, the famous bard of Prithiviraj and I think it is better for us to try our best to help the people in increasing their familiarity with court language"— (इतिहास तिमिरनाशक भूमिका भाग १)

राजा साहब एक शिक्षित व्यक्ति थे। शिक्षितो से ही उनका मिलना-जुलना होता था उर्दू को उस समय सरकार अधिक प्रश्रय दे रही थी। ऐसी अवस्था मे राजा साहब हिन्दी को अधिक से अधिक शिक्षित वर्ग की भाषा बनाना चाहते थे। और यह उर्दू फारसी के शब्दो के मिश्रण से ही हो सकता था। वे तो एक स्थान पर ब्रज भाषा को भी बुरा कह गये, और ग्रामीण प्रयोग तो उन्हे रुचिकर ही नही थे। वे एक प्रकार से उर्दू-हिन्दी के बीच की एक भाषा का प्रचार करना चाहते थे, इसका एक स्थान पर बडे सुन्दर शब्दो मे आपने वर्णन किया है—

"अति कठोर शब्दो को जो हजारो बरस तक दाँत, ओठ और जीभ से टकराते टकराते गोल मटोल पहाडी नदी की बटिया बन गये है, पण्डित जी फिर वैसे खुरदरे सिघाडे की तरह नुकीले पत्थर के ढोके बनाना चाहते है और मौलवी साहब अपने गैन-काफ काम मे लाना चाहते है कि बेचारे बलबलोत ऊँट ही बन जाते है।"

इस प्रकार राजा साहब इसी प्रयास मे लगे रहे कि अधिक से अधिक हिन्दी शिक्षित समुदाय की भाषा बन सके और इस लगे रहने मे वे अपना ध्येय भी भूल गये और उर्दू को ही मातृभाषा मान बैठे। वे अपने ग्रन्थ इतिहास तिमिर नाशक मे यहाँ तक कह जाते है—

'Urdu is becoming our mother tongue' राजा साहब की एक और विशेषता है कि वे निदान शब्द का प्रयोग बहुत करते हैं। कहा नहीं जा सकता कि इसका क्या कारण था। एक भाषा का उदाहरण देखिये—

"निदान अब जरा औरंगजेब की फौज पर निगाह करनी चाहिये, जरा इसके सरदारो के घोडो को देखना चाहिये दुम और पाले बिलकुल रंगी हुई, सोने चाँदी के साज सिर से पैर तक लदे हुये, कलगियाँ, बहुत लम्बी लम्बी, पैरो मे झाँझे बँधी हुई, मोटे इतने कि जितने लम्बे शायद उसी के करीब करीब चौडे फिर चारजामे उन पर मखमली जरदोजी बडे भारी दोनो तरफ लटकते हुये, सवार घोडो से भी जियादा देखने लायक हैं।"

राजा लक्ष्मणसिंह (सं० १८८३-१९५३)

राजा लक्ष्मणसिंह ने यह देखा कि वास्तव मे हिन्दी का अस्तित्व ही धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है। स्वयं राजा शिवप्रसाद जैसे व्यक्ति हिन्दी की उन्नति अरबी-फारसी के शब्दो के सहारे ही मानते थे। इसी कारण राजा लक्ष्मणसिंह जी ने उर्दू के शब्दो का बहिष्कार करने की कसम-सी खा ली थी। उर्दू के अधिक प्रचलित शब्दो का भी प्रयोग आपने नहीं किया। भाषा के सम्बन्ध मे आपने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया था—

"हमारे मत मे हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी हैं। हिन्दी इस देश के हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमान और फारसी पढे हुये हिन्दुओ की बोलचाल की भाषा है। हिन्दी मे संस्कृत के पद बहुत आते है, उर्दू मे अरबी फारसी के, परन्तु यह कुछ आवश्यक नहीं है कि अरबी फारसी के शब्दो के बिना हिन्दी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिन्दी कहते हैं जिसमे अरबी फारसी के शब्द भरे हो।

आपकी भापा सरल और जन साधारण के समझने योग्य है सस्कृत के भी ऐसे शब्दो का प्रयोग नही किया गया हे जिनम जन सावारण का परिचय न हो। आपने 'शकुन्तला' और 'मेघदूत' का हिन्दी मे अनुवाद किया था। इनका साहित्य-जगत मे बडा आदर हुआ। यह अवश्य मानना पडेगा कि आपकी भापा मे राजनीति, मनोविज्ञान और अर्थशास्त्र का प्रतिपादन नही किया जा सकता है फिर भी आपकी भापा जन साधारण के अधिक निकट है। यथा—

"अनुसुइया—(हौले प्रियम्वदा से) सखी मै भी इसी सोच विचार मे हूँ। अब इससे कुछ पूछूँगी। (प्रगट) महात्मा तुम्हारे मधुर वचनो के विश्वास मे आकर मेरा जी यह पूछने को होता है, कि तुम किस राजवश के भूपण हो और किस देश की प्रजा को विरह मे व्याकुल छोड कर यहाँ पधारे हो? क्या कारण है कि तुमने अपने कोमल मन को इस कठिन तपोवन मे आकर पीडित किया है?"

स्वामी दयानन्द सरस्वती (स० १८८१–१९४०)

स्वामी जी काठियावाड के निवासी थे। आपकी मातृभाषा यद्यपि गुजराती थी, परन्तु आपने यह अच्छी तरह अनुभव किया था कि भारत की यदि कोई सर्वमान्य भापा हो सकती है तो वह हिन्दी ही हे। इसी हेतु आपने अपना ग्रथ 'सत्यार्थ-प्रकाश' हिन्दी मे लिखा।

आपकी भापा को देखने से ऐसा ज्ञात होता है, कि स्वामी जी को हिन्दी गद्य पर पूर्ण अधिकार था, उनकी भापा बडी ही ओजपूर्ण तथा प्रभावयुक्त होती हे। कही-कही व्याकरण की त्रुटियाँ भी इनके गद्य मे परिलक्षित होती है। इसका कारण इनका गुजराती होना है। फिर भी आपकी भापा मे जो सजीवता है, वह पाठक पर अपना एक अमिट प्रभाव छोडती है। हास्य और व्यग भी स्वामी जी के गद्य की प्रमुख विशेपता हे, इसका कारण यह है कि इनका

अधिकांश गद्य-साहित्य खण्डन-मण्डन के लिये लिखा गया था। स्वामी जी तथा आर्य समाज का हिन्दी प्रचार मे एक मुख्य स्थान है। हिन्दी ससार सदेव ही स्वामी जी के प्रयत्नो के प्रति ऋणी रहेगी। इन्होने हिन्दी को व्यापकता प्रदान की। यह काम इनके पहले का कोई भी लेखक न कर सका था। इनकी भापा का एक उदाहरण देखिये—

"मै कुछ दिन तक अकेला हृपीकेश मे रहा, इस अवसर मे एक ब्रह्मचारी और दो पहाडी साधू भी आ मिले, फिर हम सब के सब वहाँ से स्थान टेहरी को चले गये। यह स्थान विद्या की वृद्धि के कारण साधुओ और राजपडितो से पूर्ण प्रसिद्ध था। इन पडितो मे से एक पडित ने मेरा एक दिन अपने यहाँ निमत्रण किया, और नियत समय पर एक आदमी बुलाने के लिये भेजा, उसके साथ मे और ब्रह्मचारी दोनो उसके मकान पर पहुँचे। "

बालकृष्ण भट्ट (सं० १९०१-१९७१)

आप का जन्म प्रयाग मे हुआ था, ओर वही की कायस्थ पाठशाला मे शिक्षा प्राप्त करके सस्कृत के अध्यापक भी हो गये थे। भट्ट जी का गद्य-लेखको मे एक विशिप्ट स्थान है। आप अपने पूर्ववर्त्ती गद्य-साहित्य से बड़े निराश हुये थे। आपने एक स्थल पर लिखा है—

"प्रोज (Prose–गद्य) हिन्दी का बहुत ही कम और पोच है। सिवाय एक 'प्रेमसागर' सी दरिद्र रचना के इसमे ओर कुछ है ही नही, जिसे हम इसके साहित्य के भाण्डार मे शामिल करते। दूसरे उर्दू इसकी ऐसी रेढ मारे हुये है, कि शुद्ध हिन्दी तुलसी, सूर इत्यादि कवियो की पद्य-रचना के अतिरिक्त और कही मिलती ही नही।"

आपने इस प्रकार से निराश हो कर सवत् १९३३ मे सुव्यवस्थित गद्य के प्रचार के हेतु 'हिन्दी प्रदीप' नामक पत्र निकाला। इसमे आप सामयिक

तथा साहित्यिक लेख लिखा करते थे। 'प्रदीप' के अधिकाश पृष्ठ आपकी ही रचनाओ से भरे होते थे। उसका कारण यह था कि आप एक विशेष (Standard) आदर्श गद्य लिखना चाहते थे। यह पत्र आप बत्तीस वर्ष तक आर्थिक हानि उठा कर भी निकालते रहे। इससे इनके अध्यवसाय और साहित्य प्रेम की परख होती है। इस पत्र मे समय समय पर उपन्यास, नाटक तथा निवन्ध निकलते रहे हैं। इसका भट्ट जी को स्वय गर्व था। उन्होने लिखा है—

"पाठक, इस बत्तीस साल की जिल्दो मे कितने ही उत्तमोत्तम उपन्यास, नाटक तथा अन्यान्य प्रबन्ध भरे पडे है। वे सब यदि पुस्तकाकार छाप दिये जायँ तो निस्सन्देह हिन्दी साहित्य के अग का कुछ न कुछ कोना अवश्य भर जाय।"

भट्ट जी की भाषा सस्कृत मिश्रित रही है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि भट्ट जी सस्कृत के अच्छे विद्वान थे। परन्तु इसका अर्थ यह नही कि उन्हे अन्य भाषाओ के शब्दो से चिढ थी। उन्होने आँग्ल भाषा तक के शब्दो का प्रयोग किया है। जैसे 'फीलिग,' 'स्पीच' आदि। कही-कही तो शीर्षक तक अँगरेजी मे दे बैठे है। अपने भावो को व्यक्त करने का आपको बहुत ध्यान रहता था। इसके लिये फिर वे किसी भी भाषा का शरण लेने को तैयार थे। प० प्रताप नारायण मिश्र की भाँति भाषा मुहावरेदार तो नही है फिर भी आपने मुहावरो का प्रयोग किया है, और कुछ मुहावरे आप के गढे हुये भी है। आपके गद्य का एक उदाहरण देखिये—

"मनुष्य के शरीर मे आँसू भी गडे हुये खजाने की माफिक है। जैसे कभी कोई नाजुक वक्त आ पडने पर सचित पूजी ही काम देती है उसी तरह हर्ष, शोक, भय, प्रेम इत्यादि भावो को प्रकट करने मे जब सब इन्द्रियाँ स्थगित हो कर हार मान कर बैठे जाती है तब आँसू ही उन भावो को प्रकट करने मे सहायक होता है। चिरकाल के वियोग के उपरान्त जब किसी दिली

दोस्त से मुलाकात होती है तो उस समय हर्ष और प्रमोद के उफान मे अग अग ढीले पड जाते हे।'

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१९०७-१९४१)

आपका जन्म काशी के एक धनाढच घराने मे हुआ था। वास्तव मे भारतेन्दु जी ने अपने जीवन के थोडे से काल मे ही जिस प्रकार साहित्य सेवा की वह स्पृहणीय है। सवत् १९२५ से आपने लिखना प्रारभ किया और सवत् १९४१ मे आपकी अकाल मृत्यु हो गई। परन्तु इतने थोडे समय मे भी आपने हिन्दी गद्य को एक ऐसी सुनिश्चित परपरा प्रदान की जिसके फलस्वरूप हिन्दी की अभिवृद्धि इनके पश्चात भी उत्तरोत्तर होती ही गई। आज हिन्दी का जो इतना विस्तृत क्षेत्र हम पाते है, उसके विकास मे भारतेन्दु जी का वहुत बडा हाथ था। वास्तव मे जो कार्य लल्लूलाल जी और सदल मिश्र न कर सके, राजा लक्ष्मण सिह और राजा शिव-प्रसाद जी जिसके करने मे समर्थ न हो सके; वह कार्य भारतेन्दु जी ने किया।

'काश्मीर कुसुम,' 'वैष्णव सर्वस्व,' 'चरितावली' नाटक तथा उनकी भूमिकाये तथा कुछेक निवन्ध लिख कर भारतेन्दु जी ने हिन्दी गद्य-शैली की एक सुनिश्चित धारा का निर्माण किया। इसके लिए हिन्दी ससार आपका स्मरण सदैव ही करेगा। भारतेन्दु जी के यश का एक सवसे मुख्य कारण यह भी रहा है कि उन्हे एक विशिष्ट लेखक मडल का सहयोग मिला था, जिसमे प० बदरीनारायण चौधरी, प० प्रताप नारायण मिश्र, वावू तोता राम, ठाकुर जगमोहन सिह, प० अविकादत्त व्यास, प० वालकृष्ण भट्ट और लाला श्रीनिवास दास प्रमुख थे। इस मडल के कारण उन्हे अपने विचारो को व्यक्त करने तथा उनका प्रचार करने का अच्छा अवसर मिल गया था। उनके समय

भीमसेन शर्मा (१९११-१९७४)

प० भीमसेन अपने समय के एक विद्वान व्यक्ति थे। आप आर्य समाज के कट्टर पक्षपाती तथा स्वामी दयानन्द के अत्यत विश्वासपात्र व्यक्ति थे। परन्तु वाद मे न जाने किस कारण से आपने आर्य समाज का परित्याग कर दिया। इसके वाद आप कट्टर सनातनधर्मी वन गए और अन्त तक सनातन धर्म का प्रचार करते रहे। आपने हिन्दी की वहुत कुछ सेवा की है। वैसे आप सस्कृत के अच्छे विद्वान थे। आप मिश्रित गद्य के पक्षपाती नही थे। आपने स्वय लिखा है —

"जो जाति स्वतन्त्र भाषा का अभिमान रखती हो उस जाति के लिए अपनी भाषा को खिचडी वनाने की शैली उपयुक्त नही कही जा सकती है।"

वे उर्दू फारसी शव्दो को किसी प्रकार ग्राह्य नही मानते थे। एक अन्य स्थल पर उन्होने कहा है—

"सस्कृत भाषा के अक्षय भडार मे शव्दो की न्यूनता नही है। हमको चाहिए कि अपनी भाषा की पूर्ति सस्कृत के सहारे यथोचित रूप से करे। जिन लोगो को जिन विशेष प्रचलित अन्य भाषान्तर्गत शव्दो के स्थान मे उनसे सर्वथा भिन्न सस्कृत शव्दो का व्यवहार करने की रुचि नही है, तो उसी से मिलते हुए सस्कृत शव्दो का प्रयोग वहाँ करना चाहिए।"

वे हिन्दी के इतने अन्ध-भक्त थे कि उन्होने अरबी फारसी रूपो को भी सस्कृत मे वदल डाला था। और उसी प्रकार उनके प्रयोग पर जोर देते थे। 'शिकायत' के लिए 'शिक्षायत्न' और 'चश्मा' के लिए आपने 'चक्ष्मा' शव्द की ओर इगित किया था। परन्तु इनमे से कोई भी शव्द आज तक प्रचार मे नही आ सका। इससे यह सिद्ध होता है कि यह प्रणाली भाषा की प्रगति के प्रतिकूल है। आपने पहले प्रयाग मे 'प्रयाग-समाचार'

चेष्टा की थी किन्तु मिश्र जी ने भाषा को ग्रामीणता का चोला पहनाया। आपने उसमे ग्रामीण मुहावरो एव लोकोक्तियो के सुन्दर एव सुव्यवस्थित प्रयोगो द्वारा उसे अनेकानेक अभिव्यजनाओ के लिए अत्यधिक सरल एव समर्थ बना दिया है। आपकी भाषा व्यावहारिक अधिक है। साहित्य की रचना के साथ ही साथ आपका ध्येय देश और जाति की उन्नति भी रहा है। सामाजिक कुरीतियो को दूर करने का आपने सदैव प्रयत्न किया है। आपके लिखे कुछ नाटक भी हैं जिनमे 'भारत-दुर्दशा', 'हठी-हमीर' और 'गोसकट नाटक' प्रमुख हैं। आपकी तुलना हम आग्ल साहित्य के मि० स्टील (Steele) और लैम्ब (Lamb) से कर सकते है। उदाहरण देखिये—

"घर की मेहरिया कहा नही मानती, चले है दुनिया भर को उपदेश देने, घर मे एक गाय नही बाँधी बाँध जाती, गोरक्षणी सभा स्थापित करेंगे, तन पर एक सूत देशी कपडे का नही, बने है देशहितैषी, साढे तीन हाथ का अपना शरीर है उसकी उन्नति नही कर सकते, देशोन्नति पर मरे जाते है, कहाँ तक कहिये हमारे नौसिखिया भाइयो को "माली-खूलिया" का अजार हो गया है, करते धरते कुछ भी नही है, बक बक बाँधे है।"

मुहम्मद हुसेन आजाद—

प्रो० आजाद दिल्ली के रहने वाले थे। आपने उस समय हिन्दी गद्य का निर्माण किया था जिस समय हिन्दी और उर्दू मे कोई बडा भेद नही माना जाता था। प्रो० आजाद तो यही मानते थे कि उर्दू ब्रज भाषा के आधार पर ही जीवित है। साथ ही दूसरी ओर हिन्दी भी उर्दू की अनुगामिनी बनी हुई थी, उस समय के राजदरबारो मे उर्दू को ही प्रश्रय मिलने के कारण उसका अधिक प्रचार हो रहा था और ऐसी अवस्था मे हिन्दी भी अपने को उसमे मिलाये हुए ही चल रही थी। प्रो० आजाद की भाषा न तो सैयद इशा की भाषा की भाति फडकती और फुदकती हुई भाषा है और न ब्रज

समझेगा । तुम्हारी रचना मे व्याकरण की चाहे जितनी अशुद्धियाँ होगी, साहित्यिक लोग उसे इस समय का आर्ष प्रयोग का आदर्श लेखक मानेंगे । तुम अकल के रासभ पर वुद्धि के वैल हो, तो भी अर्थ के महात्म्य से लोग तुमको विचक्षण बुद्धिसपन्न या प्रतिभा का अवतार कहकर आदर करेंगे ।"

पं० गोविन्द नारायण मिश्र (संवत् १९१६–१९८०)

आपका जन्म एक ऐसे घराने मे हुआ था, जिसमे कई पीढी से सस्कृत के विद्वान होते आये थे । आपकी शिक्षा-दीक्षा भी सस्कृत के वातावरण मे ही हुई । इस प्रकार आप सस्कृत के अच्छे विद्वान थे, फिर आपकी रुचि हिन्दी गद्य की ओर थी, और इसी दृष्टिकोण से आपने हिन्दी मे रचना की । वास्तव मे आपकी भाषा सस्कृत शब्दो से युक्त है । अलकार-प्रधान भाषा का प्रयोग किया गया है जिससे सिद्ध होता है कि शब्द-चयन खूब ढूँढ ढूँढ कर किया गया है, एक उदाहरण देखिये—

"सहज सुन्दर मनहरण सुभाव—छवि—सुभाव प्रभाव से सवका चित्तचोर सुचारु सजीव—चित्र-रचना-चतुर चितेरा, और जव देखो तव ही अभिनव रसीली नित नव-नव भाव वर—सरसीली, अनूप रूप सरूप गरवीली, सुजन मनमोहन मच की कीली, गमक जमकादि सहज सुहाते चमचमाते अनेक अलकार-सिगार-साज-सजीली, छवीली कवित कल्पना-कुशल कवि इन दोनो का काम उस आज गमोहिनी वंला की, सवला,सुभाव, सुन्दरी अति सुकोमल अवला की नवेली, अलवेली, अनोखी पर परम चोखी भी प्रेम पोखी, समधिक सुहावनी, नयन-मन-लुभावनी भोली रूप छवि की आँखो के आगे परतच्छ खडी भी दरसाकर मर्मज्ञ सुरसिक जनो के मनो को लुभाना, तरसाना, सरसाना, हरसाना और रिझाना ही है ।'

उपनाम प्रेमघन था। आप भारतेन्दु के अतरग मित्रो मे से थे, परन्तु आपकी गद्य-शैली और भारतेन्दु की शैली मे आकाश पाताल का अन्तर है। आप गद्य को भी एक कला मानते थे। इसलिए प्रत्येक वाक्य को वहुत सोच विचार कर तथा सँवार कर लिखने के पक्षपाती थे। आपने कादम्वनी मे समय समय पर वहुत कुछ लिखा। 'भारत सौभाग्य', 'प्रयाग-रामा-गमन', 'वारा-गना रहस्य' आपके प्रमुख नाटक है। आपके गद्य का नमूना यह है—

"जैसे किसी देशाधीश के प्राप्त होने से देश का रग ढग वदल जाता है तद्रूप पावस के आगमन से इस सारे ससार ने भी दूसरा रग पकडा, भूमि हरी भरी होकर नाना प्रकार की घासो से सुशोभित भई, मानो मोर मोद के रोमाच की अवस्था को प्राप्त भई। सुन्दर हरित यत्नावलियो मे भरित तसगनो की सुहावनी लताए लिपट लिपट मानो मुग्ध मयकमुखियो को अपने प्रियतमो के अनुरागालिगन की विधि वतलाती।"

लाला श्रीनिवास दास (सम्वत् १९०८–१९४४)

आप मथुरा के एक धनी सेठ लाला मगलीलाल के सुपुत्र थे। सेठ जी दिल्ली मे किसी फर्म के मैनेजर थे, और वही लाला श्रीनिवासदास का जन्म हुआ था। आप पर भी भारतेन्दु जी का वडा प्रभाव पडा था, और उसी से प्रभावित होकर इन्होने कई नाटक लिखे। जिनमे 'तप्ता-सवरण', 'रण-वीर-प्रेम-मोहिनी', 'सयोगिता-स्वयवर' प्रमुख है। वाद मे आपने 'परीक्षा गुरु' नाम से उपन्यास भी लिखा जिसकी पर्याप्त ख्याति हुई। आपकी भाषा परिष्कृत थी तथा मुहाविरो का प्रयोग हुआ है। उदाहरण देखिये—

"मुझको आपकी यह वात विलकुल अनोखी मालूम होती है। भला परोपकारादि शुभ कामो का परिणाम कैसे वुरा हो सकता है ? पडित पुरुषोत्तमदास ने कहा "जैसे अन्न प्राणाधार है परन्तु अति भोजन से रोग उत्पन्न हो सकता है।"

मार की सरन जा गिरने का जिसे चाव है, हमारा पिता अजीपुर मे वैठा हुआ वृथा रमावती नगरो की नाममात्र प्रतिष्ठा वनाये है ।"

मुख्य रूप से यह भारतेन्दु युग के कुशल कर्णधार थे, जिनके सतत प्रयत्नो मे ही हमारा हिन्दी का साहित्य आज इतनी उन्नति कर सका है। इन लेखको के अतिरिक्त कुछ और लेखको के भी नाम हमे मिलते है जिनका सक्षेप मे विवेचन करने का हम प्रयत्न करेगे । वास्तव मे इनके सहयोग से भी गद्य की उन्नति हुई, और उस सहयोग के लिए हिन्दी भापा-भाषी सदैव इनके ऋणी रहेगे। कुछ अन्य गद्य-लेखको के नाम इम प्रकार है —

प० केशव राम भट्ट (संवत् १९११–१९६१)

आप महाराष्ट्री ब्राह्मण थे। आपने भी हिन्दी की सेवा की है। 'विहार वन्धु' के नाम से एक पत्र भी निकाला था। आप शिक्षा-विभाग मे एक अच्छे पद पर नौकर थे । इसलिए विद्यार्थियो के लिए भी कुछ पुस्तके लिखी । 'सज्जाद सवुल' और 'गमशाद सौसन' आपके प्रसिद्ध नाटक है । इनकी भाषा मुख्यत उर्दू ही रही थी, परन्तु ये नागरी लिपि मे तथा हिन्दी के लिए लिखे गये थे ।

पं० राधाचरण गोस्वामो (सवत् १९१५–१९८२)

आप सस्कृत के अच्छे विद्वान थे फिर भारतेन्दु के प्रभाव से आप भी हिन्दी की सेवा के लिए सचेष्ट हुए। आपने कई नाटको का निर्माण किया जिनमे 'अमरसिह राठौर' 'तन मन धन श्री गोसाई जी के अर्पण' तथा 'सती चन्द्रावली' प्रमुख है । इसके अतिरिक्त 'विरजा' 'मृणमयी' आदि उपन्यासो का वगला मे हिन्दी मे अनुवाद भी किया। फिर 'भारतेन्दु' नामक एक पत्र भी वृन्दावन मे निकालते रहे, आप अपने जीवन भर किसी न किसी प्रकार से हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि के लिए ही सचेष्ट रहे। आपकी भापा कुछ सस्कृत की ओर झुकी हुई है, पर साधारणत सरल है ।

देख रहे हैं उस सब का श्रेय द्विवेदी जी को ही है। द्विवेदी जी के ही अथक परिश्रम और कुशल साहित्य सेवा का आज यह फल है कि हम अपने साहित्य की उन्नति को देखकर विमुग्ध हो रहे हे। वास्तव मे द्विवेदी जी ने ही साहित्य का उद्यान लगाया था तथा उसकी जमीन भी ठीक की थी। उनके रोपे हुए वृक्षो मे आज फल लग रहे है। तथा जो बीज अनायास ही जमीन पर गिर पडे हे वे भी उग कर वृक्ष बन रहे है, इसका कारण यही है कि जमीन बडी उपजाऊ है। इस जमीन को ऐसा बनाने का श्रेय द्विवेदी जी को ही हे। द्विवेदी जी के पहले गद्य के क्षेत्र मे पर्याप्त प्रयोग (experiments) हो चुके थे, अब केवल एक ओर लेखको को लगाना भर रह गया था, यही कार्य द्विवेदी जी ने किया, हिन्दी को व्याकरण-सम्मत करके लेखको के लिए एक राजमार्ग का निर्माण कर दिया था। इसीलिए इस युग को द्विवेदी युग कहना अधिक समीचीन है।

युग-चेतना और साहित्य का परस्पर घनिष्ट सबध है। आधुनिक काल एक प्रकार से सक्रान्ति काल है। हमारा देश अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो से प्रभावित हो रहा है। एक सस्कृति का दूसरी सस्कृति से स्वतन्त्र रूप से सम्मिलन हो रहा है। फलत हमारी राजनीतिक, धार्मिक एव सामाजिक परिस्थिति मे भी परिवर्तन होना स्वाभाविक है। हमारी विभिन्न मान्यताए युग से प्रभावित होकर हमारे साहित्य को भी प्रभावित कर रही है। हमारी चेतना विभिन्न प्रकार की विचार-धाराओ का स्वागत कर रही है। कौन सी विचारधारा हमारे हृदय मे स्थायित्व प्राप्त कर सकेगी—यह निश्चयपूर्वक आज नही कहा जा सकता। अतएव साहित्य के इस काल को हम एक प्रकार से प्रयोग काल भी कह सकते हैं।

भारतेन्दु और द्विवेदी जी के पश्चात हिन्दी साहित्य को हम आमूल परिवर्तित रूप मे पाते है। पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव भी हमारे साहित्य पर स्पष्ट परिलक्षित होते है। अब हमारा साहित्य—गद्य-पद्य—एक मुखी न होकर

अनेक मुखी हो रहा है। प्रत्येक वर्ग के अन्तर्गत अवातर वर्ग समुन्नत हो रहे है। यहाँ हमे गद्य-साहित्य का विवेचन ही अभीष्ट है। अत हम देखेंगे कि गद्य-साहित्य की विभिन्न शाखाये—उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, समालोचना आदि किस-किस प्रकार फूटी, पुष्पित, पल्लवित एव फलित हुई।

उपन्यास—गद्य-साहित्य के अन्तर्गत उपन्यास का एक विशिष्ट स्थान है। ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत उपन्यास-साहित्य की परम्परा अनुवादो से प्रारभ होती है। बा० रामकृष्ण वर्मा ने 'ठग वृत्तान माला', 'पुलिस वृत्तातमाला', 'अकवर', 'अमला वृत्तातमाला', 'चित्तौर चातकी' आदि अनूदित उपन्यास उपस्थित किए। गोपालराम गहमरी ने गार्हस्थ्य जीवन से सबधित बगभाषा के उपन्यासो का अनुवाद प्रस्तुत किया जिनमे से कुछ के नाम इस प्रकार है—'चतुर चचला', भान-मती,' 'नए बाबू', 'बडा भाई', 'देवरानी जेठानी', 'दो बहिन', मान-पतोहू' आदि। कुछ प्रमुख बगला भाषा के उपन्यासकारो—बकिमचन्द्र, रमेशचन्द्र, शरत् बाबू, चडीचरन आदि की उपन्यास कृतियो के अनुवाद जनता मे विशेष प्रसिद्धि पा सके। इस अनुवाद कार्य में प० ईश्वरीप्रसाद शर्मा, प० रूपनारायण पाण्डेय आदि का नाम चिरस्मरणीय रहेगा।

प्रारभिक युग मे देवकीनन्दन खत्री का नाम मौलिक उपन्यास लेखक के रूप मे इतिहास मे चिरस्थायी रहेगा। उनकी दो कृतियाँ—'चन्द्रकान्ता' तथा 'चन्द्रकान्ता सन्तति' इतनी अधिक लोकप्रिय हुई कि बहुतो ने इन कृतियो को पढने के लिए ही हिन्दी पढी। श्री देवकीनन्दन जी ने 'तिलिस्मी' और 'ऐयारी' मे सबधित रचनाये प्रस्तुत की। इन्ही का अनुकरण बाबू हरिकृष्ण जौहर ने किया। श्री किशोरीलाल गोस्वामी ने भी मौलिक उप-न्यासो को जन्म दिया। इनकी कृति मे साहित्यिकता पाई जाती है। इसी प्रारभिक युग मे श्री अयोध्यासिह उपाध्याय ने भी 'ठेठ हिन्दी का ठाठ'

और 'अधखिला फूल' नामक दो उपन्यास कृतियाँ आचार्य शुक्ल जी के शब्दो मे 'हाथ अजमाने के लिए' प्रस्तुत की। प० लज्जाराम मेहता ने भी धार्मिक एव पारिवारिक जीवन के चित्रो से सबधित उपन्यास लिखे ।

आधुनिक युग तक आते-आते उपन्यास साहित्य का रूप वदल गया, साहित्यिक आदर्श भी वदले । उपन्यास पर भी इसका प्रभाव पडा । इस युग के उपन्यासो को स्थूल रूप से हम तीन भागो मे विभक्त कर सकते है—

(१) शुद्ध मनोवैज्ञानिक
(२) सामयिक
(३) ऐतिहासिक

'अज्ञेय' का 'शेखर एक जीवनी' शुद्ध मनोवैज्ञानिक दृष्टि से लिखा गया उपन्यास है। उस कृति को अज्ञेय जी ने कुछ पश्चिम से लेकर और उसमे अपनी मौलिकता का पुट देकर अत्यन्त आकर्षक वना दिया है।

सामयिक उपन्यासो को दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है—

(१) सामाजिक
(२) राष्ट्रीय

यदि सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन किया जाय तो सामाजिक उपन्यासो के भी तीन विभाग हो सकते है—

(१) चरित्र-चित्रण-प्रधान
(२) घटना-प्रधान
(३) सिद्धान्त-प्रधान

चरित्र-चित्रण प्रधान उपन्यासोमे प्रेमचन्द्र का 'निर्मला' और 'रगभूमि', प्रतापनारायण श्रीवास्तव का 'विदा', जैनेन्द्र कुमार जी का 'त्यागपत्र', 'सुनीता', 'परख' और 'कल्याणी' रखे जा सकते है । 'निर्मला' मे निर्मला का चरित्र, 'विदा' मे चपला तथा केट का चरित्र, 'त्यागपत्र' मे मृणाल

का चरित्र, 'सुनीता' मे भाभी, 'परख' की कट्टो, एव 'कल्याणी' की कल्याणी तथा डाक्टर अन्सारी के चरित्र बहुत अच्छे बन पड़े हैं।

घटना-प्रधान उपन्यासो मे हम प्रेमचन्द्र का 'सेवासदन' ले सकते हैं परन्तु यह भी चरित्र-चित्रण शून्य नही है, सुमन के जीवन का चित्र बड़े सुन्दर ढग मे खीचा गया है। सियारामशरण गुप्त का उपन्यास 'गोद' तथा कौशिक का 'मा' भी इसी कोटि मे आता है।

सिद्धान्त-प्रधान उपन्यासो मे हम भगवती चरण वर्मा का 'चित्रलेखा' ले सकते हैं। लेखक ने उस उपन्यास के अन्दर पाप और पुण्य की बडी सुन्दर विवेचना की है। इसी वर्ग मे हम भगवतीप्रसाद वाजपेयी के 'गुप्तधन' को भी ले सकते हैं।

इन सामाजिक उपन्यासो ने समाज की विभिन्न समस्याओ पर बडा सुदर प्रकाश डाला है, और कई समस्याओ के निराकरण में भी ये सफल हुए हैं।

इन उपन्यासो मे सामाजिक एव पारिवारिक जीवन के बड़े ही सुखद करुण मार्मिक एव सजीव चित्र उपस्थित किए गए है। ये उपन्यास यद्यपि अधिकाशत भारतीय जीवन को ही चित्रित करते हैं तथा भारतीयता से ओत-प्रोत हैं परन्तु कही-कही पर ये भारतीयो मे जो विदेशीपन की बू आ गई है, जो पाश्चात्य सभ्यता की चमक घर कर गई है उसकी भी आलोचना करते चलते हैं।

राष्ट्रीय उपन्यासो को हम दो वर्गो मे विभाजित कर सकते हैं।—

(१) अर्द्ध-राजनैतिक

(२) देश-प्रेम-मय

अर्द्ध राजनैतिक उपन्यास हिन्दी मे बहुत कम लिखे गए है। यश-पाल का 'दादा कामरेड' रेमेन सेन्डर के 'सेवैन रेड सन्डेज' का भारतीय लघु सस्करण है। यह क्रान्तिकारी वर्ग का सच्चा प्रतिनिधि है। वास्तव मे क्रान्तिकारियो के सभी गुण हमे इस उपन्यास मे मिलते है। न तो

इसमे किसी धर्म को ही प्रश्रय दिया गया है, न किसी भी प्रकार की मर्यादा को बाँधा गया है। वास्तव मे 'दादा कामरेड' यशपाल के अपने जीवन का सच्चा प्रतिबिम्ब है। जैसे दादा यशपाल अपने जीवन मे किसी भी प्रकार की मर्यादा को मान्यता देना पसन्द नही करते हैं, वही बात हमे इस उपन्यास मे भी मिलती है। प्रेमचन्द्र का 'कर्मभूमि' भी सुन्दर अर्द्ध राजनैतिक कृति है। इसमे सन् १९३२ के असहयोग आन्दोलन का धुधला चित्र है। 'रङ्ग-भूमि' को हम राष्ट्रीय प्रेरणा-प्राप्त उपन्यास पाते ह। इसमे पराधीन भारत को स्वतत्र कराने का आदर्श सूरदास के रूप मे रखा जाता है।

देशप्रेम सम्बन्धी उपन्यासो मे प्रेमचन्द्र का 'गबन', 'प्रेमाश्रम' और गोदान' तथा राधिका रमण का 'राम-रहीम' लिये जा सकते है। 'गबन' मे पुलिस का सुन्दर चित्र है। 'प्रेमाश्रम' मे ज्ञानप्रकाश तथा गायत्री के उत्थान और पतन की कथा है। लखनपुर के रूप मे लेखक अन्त मे एक भारतीय आदर्श ग्राम की स्थापना करता है। 'राम-रहीम' मे हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की समस्या पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है।

राष्ट्रीय उपन्यासो का मूल भारतीय ग्राम-समस्या तथा कॉंग्रेस के आन्दोलन रहे हैं। फलत इसमे लेखक प्रचारक के रूप मे आता है। और इसी कारण प्रेमचन्द्र जी को कतिपय आलोचक प्रचारक की पदवी भी दे डालते हैं। वैसे यह सारे उपन्यास चरित्र-चित्रण प्रधान है। इनके सारे पात्र किसी न किसी सिद्धान्त के आधार से निर्मित किये गये है। विशेषता इनकी यह है कि ये सभी राष्ट्रीय उपन्यास अपना एक सामाजिक पक्ष भी रखते है। 'गोदान' मे होरी के परिवार के रूप मे प्रेमचन्द्र जी ने भारतीय परिवार-प्रणाली का एक रेखाचित्र हमारे सम्मुख रखा है।

ऐतिहासिक उपन्यासो को भी हम दो कोटियो मे विभाजित कर सकते है।—

(१) शुद्ध ऐतिहासिक

(२) ऐतिहासिक वातावरण लिये हुए काल्पनिक उपन्यास

शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यासो मे वृन्दावनलाल जी वर्मा का 'गढ कुडार' और 'झाँसी की रानी' ही सम्मुख आते है। जब भारतीय राजनीति वर्ण-व्यवस्था की सामाजिक सस्था की गोद मे खेल रही थी, उस समय का सुन्दर चित्र गढ कुडार मे है। तारा दिवाकर तथा अग्निदत्त का चरित्र इसमे बडे सुन्दर ढग से दिखाया गया है। ज्ञानदत्त के साथ राजकुमारी भागी नही यह भारतीयता का प्रतीक है। इस उपन्यास का कथानक, शुद्ध ऐतिहासिक है। लेखक ने जहाँ तहाँ केवल थोडा परिवर्तन कर दिया है। "झाँसी की रानी" तो अपने आस पास इतनी अधिक ऐतिहासिकता लपेटे हुए है, कि यह इतिहास की अधिक सुन्दर पुस्तक प्रतीत होती है।

ऐतिहासिक वातावरण लिए हुए काल्पनिक उपन्यासो मे वृन्दावनलाल वर्मा के 'विराटा की पद्मिनी' को हम उदाहरण स्वरूप ले सकते है। इसमें चौखटा तो इतिहास का है, परन्तु कथानक कल्पना और किवदन्ती के आधार पर है। इस प्रकार इस युग मे ऐतिहासिक उपन्यासो की बहुत बडी कमी है, फिर भी वृन्दावनलाल जी इस ओर जागरूक है।

सक्षेप मे उपन्यासो की धारा का यही रूप है। चन्द्रकान्ता और चन्द्र-कान्ता सन्तति नाम के उपन्यास आज के युग के लिए बीते युग की वस्तु बन गये है, आज उस शैली का कोई समर्थक भी नही है। आज के उपन्यासो का आदर्श पश्चिम है। उपन्यास क्षेत्र मे भी प्रगतिशीलता खूब घर कर गई है। अज्ञेय का 'शेखर एक जीवनी" तथा यशपाल का 'दादा कामरेड" इसके प्रत्यक्ष प्रमाण है।

आज के उपन्यास क्रमश चरित्र-चित्रण प्रधान बनते चले जाते है। घटना-प्रधान उपन्यास अब बहुत कम लिखे जाते है। हाँ जासूसी उपन्यास अवश्य घटना प्रधान होते है, परन्तु जासूसी उपन्यासो को हम साहित्यिक उपन्यास मान ले अथवा नही, यह अब भी विचारणीय विषय है। कुछ उप-

न्यासो का गठन बडा सुन्दर है, जैसे जैनेन्द्रकुमार जी की 'परख' और 'सुनीता । इसी के साथ एक उपन्यास की कोटि और की जा सकती है जो शैलीगत है । जिसमे केवल शैली तथा भापा की विशेषता ही हम पाते है । और इस कोटि मे हम चडीप्रसाद जी 'हृदयेश' के 'मगल प्रभात' नामक उपन्यास को रखते है । इस उपन्यास मे भापा तथा शैली की ही विशेषता है । इस प्रकार हमारे उपन्यास वरावर तीव्र गति से आगे बढ रहे है । पूर्व उल्लिखित व्यक्तियो के अतिरिक्त सियारामशरण गुप्त, विनोद शकर व्यास, कौशिक, उग्र, अश्क, सुदर्शन, ऋषभचरण जैन, जे० पी० श्रीवास्तव, अन्नपूर्णानन्द, राँगेय राघव, धर्मवीर भारती, पहाडी, होमवती देवी और उषा देवी मित्रा प्रमुख है ।

कहानी—साहित्य की दूसरी धारा कहानियो की है । आज के युग मे कहानी ने सपूर्ण हिन्दी गद्य को पराभूत सा कर लिया है । सामाजिक दृष्टिकोण से निकालि गए प्रत्येक मासिक पत्र मे एक कहानी को स्थान मिलता ही है । यहाँ तक कि 'कल्याण' ऐसे धार्मिक पत्र मे भी कहानी अपना स्थान बना बैठी है । वहुत सी पत्रिकाये तो केवल कहानीमय ही होती है । कहानियो को टेकनिक की दृष्टिकोण से हम दो भागो मे विभाजित कर सकते है ।—

(१) परिस्थिति-प्रधान

(२) चरित्र-प्रधान

परिस्थिति-प्रधान कहानी मे लेखक किसी परिस्थिति को हमारे सन्मुख रखकर हट जाता है । वह परिस्थिति पात्रो के चरित्र एव घटना से उद्भूत होती है । प्रसाद की कहानी 'ममता' इसका अच्छा उदाहरण है । भगवतीप्रसाद वाजपेयी की 'खाली वोतल', प्रेमचन्द की 'रानी सारन्धा' 'शतरज के खिलाडी', जैनेन्द्र की 'भाभी', 'साली', सुदर्शन की 'पत्थरो का ठेकेदार' आदि कहानियाँ इसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है ।

चरित्र-चित्रण-प्रधान कहानियों का लक्ष्य केवल चरित्र-चित्रण के द्वारा पाठक के हृदय की भावनाओं को मँजोना रहता है। प्रेमचन्द की 'बड़े घर की बेटी', गुलेरी जी की 'उसने कहा था' प्रसाद की 'आकाश दीप' और भगवतीप्रसाद वाजपेयी की 'निंदिया लागी' आदि कहानियाँ इसी क्षेत्र में ली जा सकती हैं।

विषय वस्तु के आधार पर भी वर्गीकरण किया जा सकता है—

(१) यथार्थवादी कहानियाँ

(२) आदर्शवादी कहानियाँ

स्व० प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों में आदर्श और यथार्थ का समन्वय उपस्थित किया था। श्री 'अज्ञेय' ने विशुद्धरूप से यथार्थ को अपनाया। श्री 'उग्र' जी ने यथार्थ जीवन के भद्दे एवं अश्लील चित्रों को भी बड़े उत्साह के साथ अपनाया पर उनके ये रूप साहित्य जगत में टिक न सके। श्री पहाड़ी ने भी यथार्थवादिता के उत्साह में अश्लील चित्रों को विशेष प्रश्रय दिया, किन्तु इनको भी स्थायित्व न मिल पाया।

पाठकों को वस्तुस्थिति का ज्ञानमात्र कराकर उसे भाव-धारा के बीच में ही छोड़ कर समाप्त हो जाने वाली गंभीर संवेदना से युक्त कहानियों में पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी की 'पेन्सिल स्केच' तथा 'खिलौना वाला' विशेष प्रसिद्ध हैं। श्री चंडीप्रसाद हृदयेश की कहानियों में उनकी शैलीगत विशेषता के दर्शन होते हैं। इनकी कहानियों में प्रकृति की बड़ी ही हृदयहारिणी कोमल व्यंजना होती है। केवल काल्पनिक आधार पर कहानी लिखने की भी एक शैली है। राय कृष्णदास का 'सुधांशु' तथा प्रसाद की 'आँधी' इसी प्रकार की कहानी है। ऐतिहासिक तथ्यों का निरूपण करते हुए महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने 'वोल्गा से गंगा' की कहानियाँ प्रस्तुत की।

शैली की दृष्टि से यह मानना पड़ेगा कि आधुनिक कथा साहित्य भी

पाश्चात्य साहित्य से विशेष प्रभावित है। आज का कहानीलेखक, कहानी मे मनोवैज्ञानिक आधार को ढूँढता है।

नाटक—इसमे सदेह नही कि आधुनिक गद्य साहित्य का जो स्वरूप हम देखते हैं उसमे नाटको का प्रमुख हाथ रहा है। गद्य साहित्य की परपरा मे मूलत नाटक ही रहे है। इस दिशा मे सर्वप्रथम स्तुत्य प्रयास भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी का है। उन्होने सर्वप्रथम वगला नाटक 'विद्यासुन्दर' का अनुवाद किया। इसके वाद आपने कतिपय सस्कृत नाटको का अनुवाद किया तथा चद्रावली', 'भारत दुर्दशा', 'अन्धेरनगरी', 'सत्य हरिश्चन्द्र' आदि मौलिक नाटक लिखे।

भारतेन्दु के बाद वावू रामकृष्ण वर्मा ने वगला नाटको का अनुवाद करना प्रारभ किया। पर इस क्षेत्र मे किसी प्रकार की सजीवता के लक्षण नही प्रतीत होते थे। उत्तम रगमच के अभाव मे लोग घर पर उपन्यासो के पढने मे ही अपनी रुचि दिखाते रहे। पडित रूपनारायण पाडेय ने वगला नाटको के अनुवाद प्रस्तुत किए। लाला सीताराम वी० ए० ने 'मृच्छकटिक, 'महावीरचरित', 'उत्तर रामचरित', 'मालती माधव', आदि के अनुवाद प्रस्तुत किए। पडित ज्वाला प्रसाद मिश्र तथा कविरत्न पडित सत्यनारायण पाडेय ने भी अनुवादो की परम्परा का पालन किया। प्रारभिक युग मे प० किशोरीलाल गोस्वामी ने 'चौपट-चपेट', 'मयक मजरी', प० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'रुक्मिणी-परिणय' 'प्रद्युम्न विजयध्यायोग', प० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने 'सीतावनवास', प० वलदेवप्रसाद मिश्र ने 'प्रभास मिलन', 'मीरावाई नाटक' 'ललावावू' नामक नाटक लिखे।

आधुनिक काल मे हमारा नाट्य साहित्य पश्चिम से वहुत प्रभावित है। आज के नाटको मे नादीपाठ, प्रस्तावना, भरत वाक्य कुछ भी नही पाये जाते हैं। किसी युग मे नाटको के लिए यह आवश्यक अग माने जाते थे, परन्तु आज ऐसी कोई भी मान्यता, नाटककार नही मानता है। अको

की सख्या आज अनिश्चित सी है। आज के नाटको मे मचो के लिए लबे लबे निर्देश रहते है। कविता का अश नाटको मे कम होता चला जा रहा है। अब वीरोदात्त और धीरललित नायक की बात समाप्त हो चुकी है। नायक समाज का एक अत्यत साधारण व्यक्ति भी हो सकता है। आज के नाटको को भी हम दो भागो मे विभाजित कर सकते है—

(१) चरित्रचित्रण प्रधान नाटक

(२) सघर्ष प्रधान नाटक

प्रसाद के नाटक अधिकाशत चरित्रचित्रण प्रधान है। इन्होने जो नाटक लिखे उनमे छ चरित्रचित्रण प्रधान है। 'राज्यश्री', अजात शत्रु, 'जनमेजय का नागयज्ञ, 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त', और 'ध्रुव स्वामिनी' चरित्रचित्रण प्रधान नाटक है। ये सभी ऐतिहासिक है। भारतीय नाट्य कला का इनसे साम्य नही बैठता है फिर भी ये पाश्चात्य नाटको से प्रभावित नही प्रतीत होते है। इनके नाटको मे इनकी काव्यमयी प्रवृत्ति के दर्शन अत्यधिक प्राप्त होते है। इन नाटको मे हमे भारतीय स्वर्ण युग की झाँकियाँ देखने को मिलती है। प्रसाद के साथ ही हरिकृष्ण प्रेमी का नाम सम्मुख आ जाता है। दोनो ही लेखको ने नाटको का विषय ऐतिहासिक रखा है। प्रसाद जी गुप्त काल के सौदर्य पर मुग्ध हुए है और प्रेमीजी ने मुस्लिम काल की विवेचना को अपने नाटको का विषय बनाया है। प्रसाद के नाटको मे 'स्कन्दगुप्त सर्वश्रेष्ठ है और प्रेमी के नाटको मे 'रक्षा बन्धन'। प्रसाद के नाटको मे बीच बीच मे पाई जाने वाली गीति योजना प्राय खटकने लगती है। वे केवल कवि प्रसाद की ही विशेषता व्यक्त करती है नाटककार प्रसाद की नही।

सेठ गोविन्ददास जी ने भी नाटक के क्षेत्र मे पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। उनके तीनो नाटक 'कर्तव्य', 'हर्ष' और 'प्रकाश' उच्च कोटि के नाटक कहे जा सकते है। 'कर्तव्य' मे राम और कृष्ण के चरित्रो को दो विभिन्न भावभूमियो के आधार पर चित्रित किया गया है। 'हर्ष' मे माधव गुप्त,

शशाक और हर्षवर्द्धन के चरित्र है। दोनो नाटक ऐतिहासिक है। इस कारण इनमे प्राचीन वेशभूषा और वास्तुकला का पर्याप्त ध्यान रखा गया है। 'प्रकाश' वर्तमान समस्याओ को लेकर लिखा गया है।

प० गोविन्दवल्लभ पन्त ने 'वरमाला', 'राजमुकुट', 'सुहागविन्दी' और 'अगूर की बेटी' नामक नाटक लिखे है। स्वर्गीय प० बदरीनाथ भट्ट ने 'दुर्गावती' और 'तुलसीदास' दो साधारण से नाटक लिखे। जे० पी० श्रीवास्तव ने कुछ प्रहसन भी लिखे जिनमे 'नोक झोक' 'दुमदार आदमी' 'मरदानी औरत' और 'गडबडझाला' प्रमुख है।

सघर्ष प्रधान नाटको मे प्रतिनिधि लेखक प० लक्ष्मीनारायण मिश्र जी है। इनको नाटको मे अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण रहता है। इनके नाटक अधिकतर समस्या मूलक रहे है। स्त्रियो की स्थिति और सेक्स सबधी प्रश्न का विश्लेषण इन्होने नाटको के माध्यम से किया है। आचार्य शुक्ल जी के शब्दो मे उन्हे हम 'यथातथ्यवाद' का अनुयायी मान सकते है। 'मुक्ति का रहस्य', 'आधी रात', 'राक्षस का मन्दिर' और 'सिन्दूर की होली' इनके अच्छे नाटक है। निश्चय ही मिश्र जी मे नाट्य रचना सबधिनी अनेकानेक उच्च सभावनाये है। ये इस युग के सर्वश्रेष्ठ नाटककारो मे है।

पाडेय बेचन शर्मा उग्र ने समाज की कुरीतियो का भडा फोडने के लिए 'चार बेचारे' 'चुबन' तथा 'महात्मा ईसा' का सृजन किया। प० उदयशकर भट्ट का भी नाटक लेखको मे अपना स्थान है 'दाहरिया सिव पतन' 'विक्रमादित्य' और 'कमल' आपके श्रेष्ठ नाटक है। इनके पौराणिक नाटक भी एक नवीन समस्या और प्रश्न को लेकर हमारे सम्मुख आते है। उनमे 'अबा' 'मत्स्यगन्धा', 'विश्वामित्र' और 'सगरविजय' प्रमुख है। पौराणिक नाटकरचना मे भट्ट जी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। इसके अतिरिक्त जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द ने 'प्रताप प्रतिज्ञा', राधाकृष्णदास जी ने 'प्रताप नाटक', श्री चतुरसेन शास्त्री ने 'अमर राठौर' और 'उत्सर्ग' आदि नाटक लिखे है।

२ द्विवेदी काल

३. आचार्य शुक्ल काल

भारतेन्दु युग के प्रमुख निवन्ध लेखको का ऊपर उल्लेख हो चुका है। द्विवेदी युग के प्रमुख निवन्ध लेखक है—गोविन्दनारायण मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, गोपालराम गहमरी, व्रजनन्दन सहाय, पद्मसिह शर्मा आदि।

आचार्य द्विवेदी जी के प्रभाव से अलग रहकर तथा अपना सुन्दर प्रभाव रखनेवाले निवन्धकार आचार्य शुक्ल जी थे। डा० श्यामसुन्दर दास की भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता रही है, और साहित्यिक क्षेत्र मे एक ऐसा समय आया जव आचार्य शुक्ल जी निवन्ध जगत के एक छत्र सम्राट रहे। अतएव शुक्ल जी का भी युग मानना पडता है। इनके अतिरिक्त इलाचन्द्र जोशी, बनारसी-दास चतुर्वेदी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, जैनेन्द्र, हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि लेखको ने साहित्य के इस अग की पूर्ति करने का स्तुत्य प्रयत्न किया।

सक्षेप मे यहाँ पर निवन्ध का इतना ही विवेचन पर्याप्त होगा। दूसरे स्थान पर हम निवन्ध-साहित्य और उसके विकास-क्रम पर विस्तारपूर्वक विचार करेगे।

समालोचना

समालोचना साहित्य का आवश्यक एव अत्यत उपयोगी अग है। इसके द्वारा साहित्य के अनावश्यक एव अनुपयोगी अगो का वहिष्कार होता है और दोष-परिहार के वाद उन तत्वो का समावेश होता है जिससे साहित्य उत्कर्ष को प्राप्त करता है। हिन्दी साहित्य के प्रारभिक काल मे समा-लोचना का एक मात्र उद्देश्य गुण-दोषो की व्याख्या करना ही माना जाता था। कही-कही पर कवियो को रचनाओ की टीका और भाष्य के रूप मे भी आलोचना का स्वरूप प्राप्त होता है। इस तरह से गुण-दोषो का विवेचन करने वाली निर्णयात्मक आलोचना ही वहुत समय तक हिन्दी साहित्य मे चलती

रही, जिसके द्वारा लेखको की निन्दा स्तुति का क्रम बहुत समय तक चला। किसी ग्रन्थ की एक-एक बात को लेकर सुव्यवस्थित रूप में उसकी व्याख्या करना, लेखक की अन्तर्प्रवृति मे प्रविष्ट होकर उसकी कृति की सपूर्ण रूपेण आलोचना करना आधुनिक युग की देन है। पत्र-पत्रिकाओ के प्रचलन के साथ ही साथ पुस्तको की आलोचना का क्रम चला। आलोचना की नवीन-शैली का रूप श्री बदरीनारायण चौधरी के आलोचनात्मक निबन्धो मे प्राप्त होता है। आचार्य द्विवेदी जी ने यद्यपि गुण-दोष विवेचन वाली निर्णयात्मक पद्धति का ही अनुसरण किया था, किन्तु इसमे सन्देह नही कि परिचयात्मक शैली को अपनाकर आपने आलोचना क्षेत्र का विस्तार किया। द्विवेदी जी ने भाषा सबधी आलोचना करके हिन्दी साहित्य का बडा उपकार किया। यह उनकी सबसे बडी देन है। मिश्रबन्धुओ ने 'देव-बिहारी' पर आलोचना लिखकर हिन्दी मे तुलनात्मक समीक्षा के स्वरूप को उपस्थित किया। इसी के उत्तर मे श्री पद्मसिह शर्मा ने देव के ऊपर बिहारी की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए आलोचनात्मक कृति उपस्थित की। इस आलोचना के द्वारा किसी भाव-पद्धति या शैली विशेष के क्रमिक विकास के जानने की परम्परा स्थापित हुई।

आचार्य शुक्ल जी के हाथो मे पडकर आलोचना का स्वरूप बदल गया। उन्होने न केवल कलाकार की अन्तर्प्रवृति मे प्रवेश ही किया, अपितु उस पर पडने वाले राजनीतिक, सामाजिक एव धार्मिक प्रभावो को भी देखा समझा और इन्ही आधारो पर उसकी कृति की समीक्षा करते हुए काव्य सिद्धातो का भी विवेचन किया। सूर, तुलसी और जायसी पर लिखी गई उनकी आलोचनाएँ हिन्दी-आलोचना-क्षेत्र मे अमर कृतियाँ है।

श्री श्यामसुन्दरदास का भी इस क्षेत्र मे विशेष महत्व है। इन्होने 'साहित्यालोचन' नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमे काव्य-साहित्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, रस आदि पर ऐतिहासिक ढग से विवेचन किया। सैद्धातिक

विषयो की आलोचना करते समय आपने पाश्चात्य एव भारतीय सिद्धातो का भी पूरा-पूरा ध्यान रक्खा है ।

वर्तमान समय मे आलोचना की विभिन्न प्रणालियाँ प्रचलित हो गई है जिनमे से कुछ ये है—निर्णयात्मक आलोचना, ऐतिहासिक आलोचना, मनोवैज्ञानिक आलोचना, तुलनात्मक आलोचना, प्रभावात्मक आलोचना आदि ।

स्व० लाला भगवानदीन ने भी सूर, तुलसी, दीनदयाल गिरि पर आलोचनाएं उपस्थित की थी। कविवर अयोध्यासिह उपाध्याय ने भूमिका रूप मे कबीर-समीक्षा लिखी ।

डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल द्वारा कबीर तथा निर्गुण धारा पर लिखी गई आलोचना अपना विशेष मूल्य रखती है। डा० बलदेवप्रसाद ने तुलसी का दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया। आचार्य मुशीराम शर्मा ने महात्मा सूरदास की जीवनी तथा उनके काव्य एव सैद्धातिक पक्ष को लेकर 'सूर-सौरभ' नामक ग्रन्थ प्रस्तुत किया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का आलोचना के क्षेत्र मे विशिष्ट स्थान है। उन्होने कबीर तथा नाथ सप्रदाय पर सुन्दर कृतियाँ निर्मित की। पडित विश्वनाथ प्रसाद ने 'बिहारी की वाग्विभूति' नामक ग्रन्थ मे कविवर बिहारी की बहुत ही सुन्दर एव सगत आलोचना उपस्थित की है। डा० रामकुमार ने कबीर एव अन्य सत साहित्य पर अच्छा प्रकाश डाला है। आपका हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास एक सुन्दर कृति है। प० कृष्णशकर शुक्ल ने महाकवि केशव और महाकवि रत्नाकर पर समीक्षात्मक ग्रन्थ लिखे है। इनके अतिरिक्त डा० नगेन्द्र, डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, प्रो० रामकृष्ण शिलीमुख, डा० रामविलास शर्मा, डा० धीरेन्द्र वर्मा, गगाप्रसाद पाण्डेय, डा० श्रीकृष्णलाल, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, प० नददुलारे वाजपेयी आदि के नाम भी इस क्षेत्र मे विशेष उल्लेखनीय है ।

निबन्ध

हमारे मस्तिष्क मे 'निबन्ध' शब्द अपने प्राचीन और नवीनतम दोनों अर्थों को लेकर उपस्थित होता है। अपने सुपरिचित रूप मे 'निब हमे उस समय का स्मरण दिलाता है जब हम एक कापी और कलम ले शिक्षक के आदेश से किसी ऐसे विषय के सबध मे लिखने बैठते है जि विषय मे हम बहुत थोड़ा या 'कुछ नही' के बराबर जानते है। यह काय सब के लिए बड़ा कठिन होता है। हाँ, कुछ लोग उसमे एक आनन्द का भव करते है—लिखने मे भी और दूसरे के द्वारा लिखे हुए निबन्ध मे भी। उसमे हमे एक विशेष अन्तर की ओर ध्यान देना होगा। प्र जो लोग इस प्रकार के साहित्यिक आनन्द देने वाले निबन्धो का निर्माण है वे किसी दिए हुए विषय पर नही लिखते। प्राय वे एक कोरे काग लेकर और कलम को मुँह मे दबाकर बैठ जाते है। उनके सामने कोई वि नही होता। कभी-कभी सामने रक्खी हुई चीजे ही विषय का प्रस्ताव देती है। कभी-कभी स्मृति मे सजोई हुई बाते निबन्ध का विषय जाती है।

इस प्रकार हम 'निबन्ध' को दो मुख्य रूपो मे ले सकते है—एक ज्ञान-प्रधान निबन्ध और दूसरे शुद्ध निबन्ध। ज्ञान-प्रधान निबन्ध का उ किसी विशेष विषय पर विशेष दृष्टि से प्रकाश डालना होता है। इसे निबन्ध के रूप मे एक विशेष रूप से सगठित विचारो का प्रस्तुत करना सकते है। शुद्ध निबन्ध का उद्देश्य केवल साहित्यिक आनन्द की सृ करना होता है। इस प्रकार के निबन्ध मे मन अपनी मौज से यहाँ वहाँ घूम आता है। इसे हम विचार-ससार मे मन की मनमानी दौड़ (Adv ture in the realm of thought) कह सकते है। प्रकार के निबन्ध मे स्वय लेखक का व्यक्तित्व घुला मिला रहता है

उसकी पूरी छाप इस प्रकार के निबन्ध पर रहती है। इसीलिए इसमे कुछ घरेलूपन का भाव आ जाता है।

एक उदाहरण पर्याप्त होगा। एक 'निबन्धकार' लिखने बैठता है। उसके सामने ससार की तमाम वस्तुएँ होती ह। वह एक फूल को देखकर अचानक चिल्ला उठता है 'पा गया'। 'बस विपय मिल गया।' वह 'फूल' को लेकर चलता है और प्रकृति के पुष्पोद्यान से होकर घर के चमन मे आ जाता है जहाँ भाँति-भाँति के फूल खिले हे। किन्ही को तो वह नन्ही कलियो के रूप मे देखता है। कुछ विखरे फूल, कुछ अधखिले फूल उसकी दृष्टि मे पडते है।

घर से वाहर वह बलि के पुष्पो की चर्चा को अपने निवन्ध का विपय वना लेता है। उसकी आँखो के आगे भगतसिह का चित्र आ जाता है और स्मृति मे 'फूलो की अभिलाषा' जग उठती है। वह पुष्प के सौरभ मे यश का विस्तार देखता है—'जीवन वन तू फूल समान।

पर उपकार सुरभि से सन्तत हो मुख दान॥'

इसी विपय पर इस प्रकार के अनेक निवन्ध लिखे जा सकते हे और लेखक उनमे से एक निवन्ध लिख देता है। वह उसमे रोचकता के साथ अपने अनुभव को भी गूथ देता है। वह केवल आनन्द की ही सृष्टि नही करता, उसके साथ ही साथ वह समाज की आलोचना भी प्रस्तुत करता है। परन्तु यदि 'ज्ञान-प्रधान' निवन्ध की कल्पना इस विपय पर की जाय तो निबन्धकार को केवल 'पुष्प' की परिधि मे सीमित रहना पडेगा। पुष्प-विज्ञान (Horticulture) का सहारा लेना पडेगा। यह किस प्रकार का पुष्प है ? यह कहाँ और कव खिलता है ? उसकी वनावट के विपय मे क्या विशेप वात है ? दैनिक जीवन मे पुष्प का क्या उपयोग है ? सामाजिक स्थिति पर पुष्प-विक्रय क्या प्रकाश डालता है ? आदि।

द्वितीय प्रकार के निवन्ध का प्रचलन अधिक है। इसी प्रकार के निवन्ध—

कार सफल भी रहे हैं। अंग्रेजी में तो निबन्ध का आदर्श रूप यही अंतरंग वातावरण वाला निबन्ध प्रस्तुत करता है।

इस निबन्ध की रचना के लिए एक विशेष प्रकार की मनोदशा की अपेक्षा रहती है। सफल निबन्ध-लेखक जीवन में व्यापक रुचि रखता है। समाज के व्यापार में वह पूरी तरह से रमा रहता है और मनुष्यों और स्त्रियों दोनों के ही संबंध में उसका ज्ञान पूर्ण होता है। इस प्रकार उसके निबन्ध तत्कालीन समाज के लिए दर्पण सिद्ध होते हैं। उसमें वे बातें दिखाई पड़ती हैं जो प्रायः सर्वसाधारण की दृष्टि की ओट में रहती हैं। उसका यह दर्पण व्यक्तित्व की रंगीनी लिए रहता है। अतः उसमें प्रतिबिम्बित चित्र एक ओर तो यथार्थ की शुष्कता बचा देता है और दूसरी ओर कल्पना की अतिरंजना से आक्रान्त होने से भी बचाता है।

इस दृष्टि से निबन्ध का शीर्षक भी अन्य साहित्यिक कृतियों के शीर्षक के समान महत्वपूर्ण होता है। पहले उल्लिखित निबन्ध का शीर्षक यदि केवल 'पुष्प' होता तो उसमें कोई विशेष आकर्षण न होता। शीर्षक तो इस प्रकार का होना चाहिए कि उसके पढ़ते ही पाठक आकर्षित हो जाय और साथ ही उसके मस्तिष्क में एक प्रकार की सुखद प्रतिक्रिया-सी हो और परिणामस्वरूप आदि से अन्त तक उस निबन्ध के पढ़ने की जिज्ञासा उसमें उत्पन्न हो जाय। उसके शीर्षक 'सौन्दर्य का प्रतीक' में ये सब बातें हैं। अंग्रेजी में रस्किन के लेखों में शीर्षक के नामकरण का महत्व देखा जा सकता है। हिन्दी में हास्यरसावतार प० प्रतापनारायण मिश्र के कतिपय शीर्षकों में इसका पुट है।

निबन्ध का प्रादुर्भाव हिन्दी में अंग्रेजी के प्रभाव के कारण हुआ। अतः अंग्रेजी में निबन्ध के विकास पर प्रकाश डालना समीचीन होगा। अंग्रेजी में हम महामति बेकन को प्रथम निबन्धकार के रूप में पाते हैं। बेकन ने निबन्ध के स्वरूप का आदर्श फ्रान्स के विख्यात लेखक तथा निबन्ध

के जन्मदाता मान्टेन से लिया था, परन्तु अपनी विद्वत्ता के बोझ के नीचे उसने निबन्ध को कस कर बाँध दिया। उसने एक नया ही स्वरूप स्थिर किया। उसके अनुसार किसी एक विषय पर अपने ही बिखरे विचारो को एकत्र करना निबन्ध का स्वरूप माना गया। 'गागर मे सागर' भरनेवाली उक्ति उसके निबन्धो मे पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है।

बेकन के समय मे निबन्ध का केवल यही एक स्वरूप था। मान्टेन और बेकन दोनो ने ही निबन्ध को शाब्दिक अर्थ (Essay-test) मे लेकर उसे अपने विचारो की कसौटी के रूप मे रक्खा था। इन निबन्धो मे शैली और विचार दोनो की स्पष्टता है।

बेकन का जन्म अंग्रेजी भाषा के स्वर्णकाल (१६ वी शताब्दी) मे हुआ था। अनेक नवीन बातो के साथ-साथ निबन्ध का भी उदय हुआ था। बेकन के बाद एक शताब्दी तक कोई विशेष रूप से उल्लेखनीय निबन्ध-कार नही हुआ। चर्च के उपदेशो के रूप मे हम भले ही सत्रहवी शताब्दी के मध्य मे निबन्ध का छिपा हुआ स्वरूप देख सकते है। बर्टन, ब्राउनी और मिल्टन के गद्य मे हमे निबन्ध का सूत्र मिलता रहता है।

सन् १६६८ ई० अंग्रेजी के गद्य के इतिहास मे एक महत्वपूर्ण वर्ष है। ड्राइडन के रूप मे अंग्रेजी के गद्य और निबन्ध का आधुनिक स्वरूप हमारे सामने आता है। उसका 'नाटकीय काव्य पर निबन्ध' एक नई शैली का प्रारंभ करता है। उसके वाक्य छोटे होते है। विचार सीधे अन्तस्तल मे प्रवेश करते है। भाषा स्वाभाविकता लिए रहती है और तर्क का प्रवाह अपने सबल रूप मे पाया जाता है।

एडीसन और स्टील के रूप मे हम अंग्रेजी निबन्ध के सर्वप्रिय स्वरूप को पाते है। इन लेखको ने निबन्ध को व्यापकत्व दिया। अब ज्ञान के समस्त अंग निबन्ध के रूप मे साप्ताहिक पत्रो मे प्रकट होने लगे। विषय विस्तार के साथ ही साथ भाषा की सुबोधता ने इनके निबन्धो को समाज के

कोनेकोने मे पहुँचा दिया । जीवन के सभी अगो की झलक इनके निबन्धो मे मिलती है ।

अठारहवी शताब्दी मे जान्सन और गोल्डस्मिथ का नाम उल्लेखनीय है। जान्सन की बोझिल शैली और गोल्डस्मिथ का शब्दो का जादू प्रसिद्ध ही है । गोल्डस्मिथ के निबन्धो मे व्यक्तित्व की छाप और मन की मौज दोनो ही हैं । विषय की विभिन्नता उसकी विशिष्टता है ।

इसी समय हम अग्रेजी भाषा के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार को 'लन्दन पत्रिका' मे अज्ञात नाम Elia से लिखते पाते है । उसके निबन्ध पूर्ण रूप से घरेलूपन को लिए हुए हैं । साहित्य मानो अपना राजसी लिबास उतार कर अपने अगरखे मे लैम्ब के साथ-साथ डोलता है । कलम के जादू से वह अपने आस पास की जिस चीज या घटना को ले लेता है उसी को साहित्य का प्रसाद मिल जाता है। इसे हम एक नवीन शैली को जन्म देने का श्रेय दे सकते हैं। लैम्ब की सबसे बडी विशेषता यह है कि वह पाठक को अपने मन के इतने निकट ले जाता है कि उससे लेखक की कोई बात छिपी नही रह जाती । साथ ही साथ पाठक उसको अपने समीप पाता हुआ भी उसमे परीलोक का रहस्य ही ढूंढा करता है । लैम्ब की भाषा सरल होती है । उसमे साहित्य के परिचय की अपेक्षा रहती है और उसके साथ ही साथ अपने आस-पास के जीवन के समुचित ज्ञान की अपेक्षा भी ।

लैम्ब के बाद हैजलिट और लेहन्ट का स्थान है । हैजलिट के निबन्धो मे आलोचना तत्व अधिक है । ये दोनो लैम्ब की श्रेष्ठता को तो नही पाते पर उसी शैली पर बहुत कुछ अच्छे ढग पर लिखते हैं ।

मैकाले ने निबन्ध को इतिहास के छोटे भाई के रूप मे लेकर उसकी एक नई प्रणाली ही प्रचलित कर दी । वह एक छोटी सी बात को भी बहुत बढावा देकर कहता है । किन्तु यह अतिशयोक्ति प्रधान शैली अधिक सर्वप्रिय न हो सकी ।

कार्लाइल और रस्किन के रूप मे अग्रेजी का निबन्ध विक्टोरिया के काल मे एक नए रूप को सँवारता है। अब निबन्ध पर विचार का भार और कला का रग चढाया जाता है। कार्लाइल के निबन्ध मानो विचारो के आह्वान मात्र है और रस्किन की रगीनी तो पद-पद पर उसकी कला-प्रियता की सूचना देती है।

उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम भाग मे निबन्ध के क्षेत्र मे एक सैलानी का प्रवेश हुआ। स्टीवेन्सन ने मानो निबन्ध लिखने के लिए ही शरीर धारण किया था। पहले सभी लेखको की आत्माएँ उसके लेखो के माध्यम मे बोल उठी, परन्तु साथ ही उसका अपनापन भी नही छुटा था।

बीसवी शताब्दी के प्रारभ मे एक बार फिर मैकाले और कार्लाइल को भूलकर जनरुचि ने लैम्ब के आदर्श को अपनाया। ए० जी० गार्डिनर के रूप मे हम लैम्ब के अर्वाचीन सस्करण के दर्शन पाते है। पत्रो की विविधता और बहुलता ने छोटी-छोटी कहानी के साथ-साथ निबन्ध का महत्व भी बढा दिया है। एक साथ हम बहुत से लेखको को पाते है। उनमे से कुछ नाम उल्लेखनीय है—यथा लूकास, चेस्टरटन, राबर्ट लिन्ड और मैक्स बियर बॉम।

हिन्दी मे निबन्ध

हिन्दी मे निबन्ध विशेषत इन पिछले खेवे के निबन्धो के पठन-पाठन तथा प्राचीन लब्धप्रतिष्ठ निबन्धकारो की पाठ्य पुस्तको के माध्यम से प्राप्त परिचय के रूप मे आया। कुछ लेखको ने स्वतन्त्र रूप से भी लिखा और कुछ ने अग्रेजी लेखो की बन्दर की सी नकल की। इस प्रकार हिन्दी मे 'निबन्ध' अपना एक स्थान बनाने लगा।

हिन्दी मे निबन्ध प्राचीन साहित्य की परम्परा को लेकर भी चला। उसमे 'एसे' (Essay) का बौद्धिक प्रयत्न मात्र ही नही है वरन् निबन्ध शब्द का प्रयोग दूसरे अर्थ मे भी हुआ। केवल एक ही विषय अथवा

विषय के किसी अग विशेष या पक्ष को ही लेकर जो छोटे छोटे ग्रन्थ लिखे गये उनमे हम निवन्ध की छाप पाते है। प्रेममूर्ति महाप्रभु वल्लभाचार्य का 'शृगार रस मण्डन' अथवा गग कवि का 'चद-छद-वर्णन की महिमा' इसी कोटि के ग्रन्थ है। निवन्ध का प्रतिलोम प्रवन्ध है। कभी-कभी प्रवन्ध शब्द रामायण जैसे महाकाव्यो के लिए भी प्रयुक्त होता है।

हिन्दी मे विषय वैविध्य के अनुसार निवन्ध मुख्यत चार रूपो मे पाये जाते है —

१ वर्णनात्मक (Descriptive)
२ विवरणात्मक (Narrative)
३ विचारात्मक (Reflective)
४ भावात्मक (Emotional)

इसके अतिरिक्त इन प्रकारो के परस्पर मेल से भी और वहुत से प्रकार वन जाते है। वर्णनात्मक रूप मे देशगत विशेपता के अनुसार स्थान विशेष की छाप पडती है। विवरणात्मक रूप मे समय के प्रवाह के सहारे किसी भी विचार-शृखला को जोडा जा सकता है। विचारात्मक रूप मे निवन्ध मस्तिष्क की दौड और तर्क के विस्तार का स्वरूप पाता है। भावात्मक निवन्धो का सीधा सवध हृदय से होता है। वर्णनात्मक और विवरणात्मक निवन्धो मे काव्य का कल्पना-तत्व प्रधान रहता है। विचारात्मक निवन्ध वुद्धि-तत्व का आश्रय लेता है और भावात्मक निवन्ध मे काव्य के रागात्मक तत्व की प्रधानता मिलती है। कही-कही ये भिन्न-भिन्न तत्व भी एक दूसरे के साथ मिलते हुए दिखाई पडते है।

इन निवन्धो की पृथक्-पृथक् शैलियाँ भी होती है। वर्णनात्मक निवन्धों मे व्यास शैली का प्रयोग होता है। व्यास शैली मे एक ही वात को समझा समझा कर कई रूपो मे प्रस्तुत किया जाता है। कृष्ण वल्देव वर्मा के वुन्देल

खण्ड पर्यटन मे इस शैली का अच्छा उदाहरण मिलता है। वर्णनात्मक निवन्धो मे जव समास शैली का प्रयोग होता है तव प्राय सस्कृतगर्भित भापा का प्रयोग होता है। श्रीमती महादेवी वर्मा की 'स्मृति की रेखा' मे, जगवहादुर नामक पर्वतीय कुली के वर्णन मे इसका अच्छा उदाहरण मिलता है।

साहसपूर्ण कार्यो के विवरण तथा एक नए प्रदेश के प्रथम अनुभव के विवरण व्यास शैली को अपनाते हुए चलते है। श्रीराम शर्मा के शिकार के अनुभव एव सियारामशरण गुप्त के 'हिमालय की झलक' शीर्पक निवन्ध इस शैली के उदाहरण है।

विचारात्मक निवन्धो मे दोनो ही प्रकार की शैलियाँ पाई जाती है। स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विचारात्मक लेखो मे समास शैली के सर्वोत्तम उदाहरण मिलते है। स्वर्गीय डाक्टर श्यामसुन्दरदास तथा साहित्य महारथी महावीरप्रसाद द्विवेदी के विचारात्मक निवन्धो मे हम व्यास शैली का प्रयोग पाते है।

भावात्मक निवन्धो मे भी दो प्रकार की शैलियाँ पाई जाती है।

१ धारा शैली

२ तरग या विक्षेप शैली।

धारा शैली मे भावुकता का प्रवाह धीरे-धीरे समान रूप से वढता है, किन्तु विक्षेप शैली मे वह प्रवाह अनियमित रूप मे तीव्र तथा मन्द गति से होता है। सरदार पूर्णसिह के 'मजदूरी और प्रेम, शीर्पक निवन्ध मे धाराशैली अपने ओजमयी रूप मे पाई जाती है। भावात्मक निवन्धो मे विक्षेप शैली का उदाहरण श्री वियोगी हरि के 'साहित्यिक चन्द्रमा' मे देखा जा सकता है। प्राय इसी के समान दूसरी शैली का उदाहरण महाराज-कुमार डाक्टर रघुवीरसिह के 'ताज' शीर्षक लेख अथवा 'शेष स्मृतियाँ' के अन्य लेखो मे ढूँढा जा सकता है।

जब भावावेश का वेग उच्छृंखलता की सीमा छूने लगता है तब विक्षेप शैली प्रलाप का रूप धारण कर लेती है। इसी प्रकार हम हास्य एवं व्यंग्यात्मक लेखों को भावात्मक और विचारात्मक लेखों की गंगाजमुनी धारा के रूप में ले सकते हैं। शैलियाँ विषय के अनुरूप अपने स्वरूप को बदलती रहती हैं और आवश्यकतानुसार कहीं-कहीं मिश्रित रूप में भी पाई जाती हैं।

हिन्दी साहित्य में हरिश्चन्द्र युग नये-नये स्वरूपों का प्रयोग काल है। इस युग में पत्रकार कला के उदय होने के साथ-साथ निबन्धों का प्रचार बढ़ा। छोटी कहानी की भाँति लेख या निबन्ध समाचार-पत्रों के आवश्यक अंग समझे जाते हैं। १९ वीं शताब्दी के मध्य काल में बहुत से भारतेन्दु मंडल के लेखक पत्रकार के रूप में प्रकट हुए। विषय की विविधता का रूप इन लोगों के लेखों में पाया जाता है। इन पत्रकार लेखकों में पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० बदरीनारायण चौधरी, पं० प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, पं० माधवप्रसाद मिश्र, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का नाम मुख्य है।

भारतेन्दु युग में हम मनोरंजन तथा चमत्कार-प्रदर्शन की ओर लेखकों की अधिक रुचि पाते हैं। साथ ही साथ उसमें एक छिपा उद्देश्य भी होता था, यह छिपा उद्देश्य कभी-कभी स्पष्ट रूप में राजनीतिक और सामाजिक सुधार की भावना लिए हुए प्रकट होता था। सजीवता और जिन्दा-दिली उस काल के निबन्धों की अपनी विशेषता है। भारतेन्दु युग में हम निबन्ध-साहित्य को अपने स्वतन्त्र रूप में पाते हैं। उस समय निबन्ध का जन्म तत्कालीन परिस्थिति तथा लेखकों की मन की मौज से हुआ। देशभक्ति की भावना भी इन निबन्धों में झलकती हुई दिखाई पड़ती है।

द्विवेदी युग में निबन्ध-कला अपने परिमार्जन-काल में प्रवेश करती है। निबन्ध में नये-नये विषयों की कल्पना इसी युग की देन है। अब निबन्ध धर्म, समाज, राजनीति और देशभक्ति के दायरे से निकलकर अपने व्यापक

रूप मे आ गया था। उपयोगिता तथा ज्ञान-विस्तार की प्रवृत्ति ने ससार के समस्त विषयो को निबन्ध की सीमा मे समेटने का प्रयास किया। फलतः बुद्धि-प्रयास को विस्तार का क्षेत्र मिला। अग्रेजी आदि अन्य भाषाओ से भी लेखो के अनुवाद किए गए। द्विवेदी जी के अतिरिक्त इस काल के लेखको मे प० गोविन्दनारायण मिश्र, प० माधवप्रसाद मिश्र, प० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, बाबू गोपालराम गहमरी, बाबू ब्रजनन्दन सहाय, प० पद्मसिह शर्मा आदि मुख्य है।

साहित्य मे हम एक युग को दूसरे युग से अलग नही कर सकते। द्विवेदी युग मे ही बाबू श्यामसुन्दर दास तथा प० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखना आरभ कर दिया था। बाबूजी की सबसे बडी विशेषता यह थी कि वह गभीर विषयो को बडा सरल बना देते थे। इन्होने निबन्ध के इतिहास मे आधुनिक युग का आरभ किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा निबन्ध-साहित्य मे एक नया 'प्रकार' आया। जिस प्रकार बाबू श्यामसुन्दर दास ने हिन्दी की उच्चतम कक्षाओ मे काम आने वाले हिन्दी के पाठ्यग्रन्थ प्रस्तुत किए उसी प्रकार उच्च कोटि के निबन्धो के निर्माण का श्रेय प० रामचन्द्र शुक्ल को है। द्विवेदी युग के निबन्धो से इस काल के निबन्धो का सबसे बडा अन्तर यह है कि इस समय विषयो की गहराई मे जाकर विश्लेषण करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। प० रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध भावो से सबध रखते हुए भी विचारात्मक और मनोवैज्ञानिक है। दूसरी कोटि मे उनके आलोचनात्मक निबन्ध आते है। इन निबन्धो मे व्यक्ति आलोचना (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र) और सैद्धातिक आलोचना (साधारणीकरण) दोनो मे ही सबध रखनेवाले निबन्ध है। मनोवैज्ञानिक निबन्ध शुक्ल जी की अपनी विशेषता है। यद्यपि इन विषयो पर पहले भी लेख लिखे गये थे पर वे प्रशसात्मक और नैतिक अधिक थे और शुक्ल जी के निबन्धो की तरह विश्लेषणात्मक नही थे। शुक्ल जी के निबन्धो मे व्यक्तित्व और विषय का अच्छा मेल है।

विषय मनोवैज्ञानिक होते हुए भी उनका व्यक्तित्व कहीं पाठक को गुदगुदाते हुए और कहीं तिलमिलाते हुए चलता है। उनकी समास शैली कहीं-कहीं सूत्र और कहीं-कहीं सूक्ति का रूप धारण करती चलती है।

आधुनिक युग के अन्य लेखकों में डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पदुम लाल पुन्नालाल बख्शी, नलिनी मोहन सान्याल, इलाचन्द्र जोशी, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', नन्ददुलारे वाजपेयी, बनारसीदास चतुर्वेदी, गुलाबराय, शान्तिप्रिय द्विवेदी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, वासुदेव शरण अग्रवाल, जैनेन्द्र, नगेन्द्र, सत्येन्द्र, प्रभाकर माचवे आदि हैं। इनके निबन्ध प्रायः साहित्यिक और आलोचनात्मक हैं। इनके अतिरिक्त व्यक्तित्व की पूरी छाप लिए हुए श्री सियारामशरण तथा महादेवी वर्मा के निबन्ध होते हैं। प० हरिशंकर शर्मा तथा बेढब बनारसी और मिर्जा अजीम बेग चगताई ने हास्य रस की अवतारणा निबन्ध में की है। निबन्ध साहित्य विकासोन्मुख है। अभी अनेक सभावनाओं को इसमें स्थान पाना शेष है। हिन्दी के राष्ट्रभाषा पद पर आसीन होनेसे तथा पत्र-साहित्य के अत्यत विस्तार की निश्चित सभावना निबन्ध की उन्नति का विश्वास देती है।

नाटक

स्व० आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

सस्कृत मे एक धातु 'नट्' है। 'नट्' धातु मे अच् प्रत्यय लगाने से नट् शब्द बना है, उसका अर्थ नाचने वाला है। अर्थात् नटो का व्यवसाय नाचना है। नाटय और नाटक शब्द भी 'नट्' धातु से ही बने है। ये दोनो शब्द नटो के कर्म व्यवसाय के बोधक है। अर्थात् नटो का कर्म नाटय अथवा नाटक कहलाता है। इससे यह सूचित हुआ कि नाट्यशास्त्र मे नटो से सबध रखने वाले कार्यो अथवा भावो का वर्णन होना चाहिए। यह यथार्थ है। इस शास्त्र मे नट, नटी और उनके सहयोगियो के कार्य कलाप से सबध रखनेवाली बातो ही का वर्णन है।

नाटक का दूसरा नाम रूपक भी है। नाटय शास्त्र के आचार्यो ने इस दूसरे ही नाम का अपने ग्रन्थो मे विशेष प्रयोग किया है। नाटक मे प्रत्येक पात्र किसी दूसरे का रूप धारण करके उसी के अनुसार बर्ताव करता है। अर्थात्, यदि दुष्यत का वर्णन आता है तो उस पर दुष्यत के रूप का आरोप होता है और दुष्यत का रूप धारण करके जैसे हाव-भाव दुष्यत ने किये होगे वैसे ही हाव-भाव वह भी अपने को दुष्यत ही मानकर सबको दिखलाता है। ऐसा करने मे एक व्यक्ति पर दूसरे व्यक्ति का आरोप होता है। इसीलिए, नाटय का दूसरा नाम रूपक रक्खा गया है। रूपक का लक्षण 'रूपारोपात्तु रूपकम्' है अर्थात् जिसमे रूप का आरोप किया जाता है वह रूपक है।

काव्य दो प्रकार के है, एक श्रव्य, दूसरा दृश्य। जिसमे कवि किसी वस्तु का स्वय वर्णन करता है वह श्रव्य काव्य है। अर्थात् जिसे सुनने से आनन्द

मिलता है उसे श्रव्य काव्य कहते है। 'रघुवश', 'किरात', 'नैषध', 'रामायण', 'सतसई' आदि श्रव्य काव्य है। जिसमे कवि स्वय कुछ नही कहता, जो कुछ उसे कहना होता है उसे वह उन बातो से सबध रखनेवाले व्यक्तियो से कहलाता है उसे दृश्य काव्य कहते है। अर्थात् जिसे देखकर आनन्द मिलता है वह दृश्य काव्य है। 'शाकुन्तल,' 'रत्नावली,' 'विक्रमोवर्शीय,' 'सत्य हरिश्चन्द्र,' और 'नील देवि' आदि दृश्य-काव्य है।

किसी वस्तु का वर्णन सुनने मे जितना आनन्द मिलता है उससे बहुत ही अधिक उसे प्रत्यक्ष देखने से मिलता है। देखने और सुनने मे बडा अन्तर है। अतएव जिस काव्य के द्वारा किसी कवि की कविता का रस नेत्र द्वारा साक्षात् पान करने को मिले वही काव्य श्रेष्ठ है। इसीलिए श्रव्य काव्यो की अपेक्षा दृश्य काव्यो की महिमा अधिक है। कालिदास की जो इतनी कीर्ति देश-देशान्तरो मे फैली है वह उसके दृश्य काव्य ही की कृपा का फल है। यदि सर विलियम जोन्स 'अभिज्ञान शाकुन्तल का अग्रेजी मे अनुवाद न करते तो 'रघुवश' और 'मेघदूत' आदि के द्वारा कालिदास का यश ग्रेटब्रिटेन, फ्रास और जर्मनी आदि विदेशी देशो मे अब तक उतना न फैलता जितना इस समय फैला हुआ है। कविकुल गुरु के नाटको ही ने उनकी महिमा को विशेष बढाया है।

रूपक अर्थात् नाटक मे नट दूसरे का रूप धारण करके उसके कार्यो का अनुकरण करता है। इस अनुकरण का नाम अभिनय है। अभिनय, संस्कृत मे, 'नी' धातु के पहले 'अभि' उपसर्ग और पीछे 'अच्' प्रत्यय लगाने से बना है। 'नी' का अर्थ 'ले जाना' और 'अभि' का अर्थ 'चारो ओर' है अर्थात् जिससे किसी कार्य का अनुकरण अग से, वाणी से, वेषभूषा से, अथवा मनोवृत्ति सूचक शारीरिक चिन्हो से सब ओर दिखलाया जाय उसे 'अभिनय' कहते है। नाटक मे हर्ष शोक आदि मानसिक विकार और हँसना, रोना, चलना, फिरना, कहना, सुनना आदि शारीरिक विकार किवा

कार्य, सब अभिनय द्वारा तद्वत् दिखलाये जाते है। अभिनय मे मनुष्य की सब अवस्थाओ और उसके सब विकारो का अनुकरण करके देखने वालो को उनका प्रत्यक्ष अनुभव कराया जाता है। ये अभिनय इस प्रकार किये जाते है कि दर्शको को यह नही प्रतीत होता कि वे खेल देख रहे है। यदि ऐसा न हो तो यह समझना चाहिए कि अभिनय ठीक नही हुआ।

नट शब्द के धात्वर्थ का विचार करने से जान पडता है कि पहले पहल इस देश मे जब नटो ने खेल आरभ किया तब वे केवल नाचते ही थे। 'अभिनय' मे जिन-जिन क्रियाओ का समावेश होता है वे सब क्रियाये उस समय प्रचलित न थी। यदि होती तो शायद नट के लिए कोई दूसरा ही नाम दिया जाता। और यही ठीक भी जान पडता है, क्योकि आदि मे सभी कलाये अपूर्ण रहती है, उनकी उन्नति धीरे-धीरे होती है।

इसका पता लगाना कठिन है कि किस समय से अभिनय ने अपना पूर्ण रूप धारण किया। नाट्य शास्त्र के आचार्य भरत मुनि है। वे बहुत प्राचीन है। परन्तु यह नही निश्चित कि वे कब हुए। उनके भी पहले नाटक लिखे जा चुके थे। यदि ऐसा न होता तो भरत को नाट्यशास्त्र सबधी सूत्र बनाने पडते। उन्होने एक बडा ग्रन्थ लिखा है। जिसमे उन्होने नाट्यशास्त्र के लक्षण विस्तारपूर्वक दिये है। जिस प्रकार भाषा के अनन्तर व्याकरण बनता है, उसी प्रकार लक्ष्यग्रन्थो के अनन्तर लक्षण ग्रन्थ बनते है। इसीलिए यह कहना निर्मूलक नही कि भरत के पहले अनेक नाटक बन चुके होगे। उन नाटको मे नाट्यकला के दोष देखकर उस शास्त्र के लक्षण लिखने की इच्छा भरत को हुई होगी। अर्थात् भरत के बहुत पहले ही भरत खण्ड मे नाटक ग्रन्थ बन चुके थे और उनका प्रयोग भी होता था। व्याकरण के आचार्य पाणिनि भरत से भी पुराने है। भाषा उत्पन्न होने पर पहले व्याकरण की आवश्यकता होती है, नाटक इत्यादि पीछे बनते है। अतएव यह अनुमान अनुचित नही कि पाणिनि मुनि भरत से पहले हुए है। यदि न भी पहले

हुए हों तो वे कुछ आज के तो हैं नहीं, प्राचीन अवश्य हैं। उन्होंने अपने व्याकरण में नाट्य शास्त्र के दो आचार्यों के नाम लिखे हैं। शिलालिन् और कृशाश्व। इससे यह सिद्ध है कि पाणिनि और भरत के पहले भी नाट्य-कला का प्रचार इस देश मे था। प्रचार ही नहीं, किन्तु उसके लक्षण-ग्रन्थ तक बन गये थे। नाट्य कला की आदिम अवस्था में नट केवल नाचते ही थे, ठीक अभिनय नहीं करते थे। परन्तु शिलालिन् और कृशाश्व के समय मे नाट्यकला की उन्नति हो चुकी थी। उस समय अंग से, वाणी से और वेश इत्यादि से पूरा अभिनय होने लगा था। इसका प्रमाण पतंजलि मुनि का व्याकरण महाभाष्य है। पाणिनि के सूत्रों की व्याख्या करते समय पतञ्जलि कहते हैं कि नट गाते थे और दर्शक उनका गाना सुनने जाते थे। यही नहीं, वे और भी कुछ कहते थे। वे लिखते हैं कि कृष्ण के द्वारा कंस का वध किया जाना और विष्णु के द्वारा बलि का छला जाना भी रंगभूमि में दिखलाया जाता था। इन प्रमाणों से सिद्ध है कि ईसा से बहुत पहले नाट्यकला का पूरा पूरा प्रचार इस देश मे था। अतएव जो लोग यह कहते हैं कि भारतवर्ष ने और देशों की सहायता से अपनी नाट्यकला की उन्नति की वे भूलते हैं। डेढ़ दो हजार वर्ष के लगभग तो कालिदास ही को हुए हुआ। उनके समय में नाट्यकला परिपक्व दशा को पहुँच चुकी थी।

नाट्यकला का उल्लेख पुराणों में भी है। हरिवंश पुराण के ९३ वें अध्याय में लिखा है कि वज्रनाभ के नगर मे प्रद्युम्न आदि ने "कौबेर-रम्भाभिसार" नाटक खेला था। उस नाटक मे जिसने जिसका रूप लिया था उसका भी वर्णन है। जो लोग पुराणों को वेदव्यास-कृत मानते हैं और उनको अत्यन्त प्राचीन समझते हैं उनके लिए तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं। परन्तु जो ऐसा नहीं समझते उनको हरिवंश के प्राचीनत्व का प्रमाण दरकार होगा। अतएव उनको बंकिम बाबू के कृष्णचरित्र का प्रमाण देते हैं। वहां उन्होंने सिद्ध किया है कि हरिवंश पुराण महाभारत के थोड़े ही

दिन पीछे बना है। अतएव पुराणो मे नाटको के खेले जाने का पता लगने से ही मानना पडता है कि यह कला हम लोगो ने बहुत प्राचीन समय से सीखी थी।

भरत ने अपने ग्रन्थ मे शिलालिन् और कृशाश्व आदि आचार्यो का नाम तो नही दिया, परन्तु उनके लिखने के ढग से यह सूचित होता है कि उनके पहले नाट्य शास्त्र सबधी और कई ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। यदि ऐसा न होता तो भरतमुनि अपने सूत्रो को इतना सर्वांग-सुन्दर शायद न बना सकते और सूक्ष्म से सूक्ष्म बातो का विवेचन भी उसमे न कर सकते। सुना जाता है कि नाट्य कला को भरत ने ब्रह्मा से सीखा था। यदि ब्रह्मा ने पहले पहल यह कला भरत को सिखलाई तो कृशाश्व आदि ने उसे किससे सीखा ? वे तो भरत से भी पहले हुए जान पडते है। परन्तु इन प्राचीन बातो पर तर्क-वितर्क करने बैठना व्यर्थ कालक्षेप करना है। अतएव हमारे लिए इतना ही जानना बस है कि नाट्यकला बहुत ही प्राचीन कला है और उसके कई आचार्य हो गये है, जिसमे से केवल भरतमुनि का सूत्र-बद्ध ग्रन्थ इस समय उपलब्ध है। भरत के ग्रन्थ के अनन्तर चाहे जितने ग्रन्थ नाट्यशास्त्र-सबधी बने हो, परन्तु इस समय एक ही और प्रामाणिक ग्रन्थ इस विषय का पाया जाता है। इसका नाम 'दशरूपक' है। इसे धनञ्जय नाम के कवि ने ग्यारहवे शतक मे लिखा था। इसमे नाट्यशास्त्र का बहुत ही अच्छा विवरण है। यह ग्रन्थ सर्वमान्य है। सस्कृतज्ञ विद्वान् इसे विशेष प्रामाणिक मानते है। इसके अतिरिक्त 'काव्य-प्रकाश,' 'काव्यादर्श,' 'सरस्वती-कण्ठाभरण' और 'साहित्य दर्पण' आदि मे भी नाट्यशास्त्र का सक्षिप्त वर्णन है।

आरभ मे अप्सराये और गधर्व आदि नाटको का अभिनय देवताओ के सम्मुख करते थे। उन्ही का अनुकरण मनुष्य करने लगे और देवालयो में अभिनय होने लगा। पहले केवल नाच था, फिर नाच के साथ गाना भी होने लगा, और अन्त मे क्रम-क्रम से अभिनय ने अपना रूप धारण किया।

प्राचीन समय मे देवताओ के उत्सवो पर नाटको का प्रयोग होता था। वगदेश की यात्रा और इन प्रान्तो की रामलीला पुराने नाटको का चिन्ह जान पडती है। धीरे-धीरे राजाओ की रगशालाओ मे, मनोरजन और उपदेश के लिए, नाटको का खेल होने लगा। इस प्रकार क्रम-क्रम से नाट्यकला ने उन्नत रूप धारण किया। और उसका देशव्यापी प्रचार हुआ। परन्तु ववई, कलकत्ता आदि नगरो मे वने हुए, थियेटर (नाट्यशाला) के समान सर्वसाधारण के लिए कोई नाट्य-मन्दिर इस देश मे, पहले कभी न था।

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, नाटक का व्यापक अर्थ नकल (अनुकरण) करना है। किसी के इशारो को, किसी की वातो को और किसी के कार्यों को तद्वत् करके अथवा कहके वतलाना नाटक कहलाता है। मनुष्य मे स्वभाव ही से अपने मन के विचारो को वाणी से अथवा अग-भगी से प्रकट करने की इच्छा उत्पन्न होती है। उनके प्रकट करने की रीति को वह औरो के सहवास से सीख लेता है। यह वात सभ्य और असभ्य सभी देशो मे पाई जाती है। नकल अर्थात् अनुकरण करने मे आनन्द भी मिलता है। इसीलिए छोटे-छोटे लडके दूसरो का अनुकरण करके हँसते और आनन्दित होते है। अफ्रीका के असभ्य हवशी और अमरीका के असभ्य इण्डियन लोगो को भी अनुकरण करना आता है। अनुकरण करना मनुष्यो में स्वाभाविक है। इस अनुकरण का वीज मनुष्य की इच्छा मे रहता है। इस इच्छा को हम चाहे मानुषिक कहे, चाहे ईश्वरोत्पादित कहे—इच्छा अथवा मन से ही अनुकरण करनेकी भावना उत्पन्न होती है और अनुकरण ही नाटक है। मनुष्य जाति मे अनुकरण सर्वत्र प्रचलित है। परन्तु इस अनुकरण की गणना नाटक मे होने के लिए अनुकरण से उत्पन्न हुए कार्यों को भाषा के साहित्य मे कोई रूप प्राप्त होना चाहिए। अनुकरण को कोई रूप मिले विना उसे साहित्य मे स्थान नही मिल सकता, अतएव वह साहित्य की शाखा भी तव तक नही हो सकता। ऐसी अनेक मनुष्य जातियाँ

पृथ्वी पर हैं जिनमें अनुकरण बराबर होता है, परन्तु वह अनुकरण नाटक के रूप में नहीं होता। इसीलिए उनमें नाट्य-साहित्य का अभाव है।

अनुकरण को नाटक का नाम प्राप्त होने के लिए नियमों की आवश्यकता होती है। जिन नियमों के अनुसार अनुकरण किया जाता है उन नियमों के समुदाय ही को नाट्यशास्त्र कहते हैं। इस अनुकरण का पर्यायवाचक शब्द अभिनय बहुत व्यापक शब्द है। नाटक के कार्यों के सूचक सब भाव इस शब्द में बंधे हुए हैं। इसके उच्चारण करते ही रंगभूमि में अनुकरण करने की सब रीतियों का उदय मन में तत्काल हो जाता है। अतएव अनुकरण के स्थल में अभिनय शब्द का ही उपयोग उचित है। भरत और धनञ्जय ने अपने अपने ग्रन्थों में अभिनय के नियमों का विस्तृत वर्णन किया है। उन नियमों में से कोई-कोई नियम बहुत ही सूक्ष्म हैं। वे ऐसे हैं कि नाटककार कवियों ने उनका बहुधा उल्लंघन किया है। स्थूल नियमों में से भी, देश-दशा और समय के परिवर्तन के कारण, बहुतेरे नियम यदि आजकल काम में न लाये जायँ तो कोई हानि नहीं। सच तो यह है, नियम पीछे बनाये गये हैं, नाट्यकला का उदय पहले ही हुआ है। अनुकरण करने की रीतियां अनन्त हैं। कोई यह नहीं कह सकता है कि अमुक ही रीति से अनुकरण हो सकता है। अतएव मानसिक विकारों के परम ज्ञाता प्रतिष्ठित कवि अपनी अनन्त अनुकरणशीलता के बल से यदि नाट्यशास्त्र के नियमों का उल्लंघन भी कर जायँ तो कोई आश्चर्य अथवा दोष की बात नहीं। नाट्यशास्त्र के नियमों को पढ़कर ही कोई अच्छा नाटककार नहीं हो सकता। अच्छा नाटककार वही हो सकता है जो अच्छा कवि अथवा अच्छा लेखक है और अपनी लिपि[illegible] वाणी में मानसिक विकारों का सजीव चित्र खींच सकता है। यदि ऐसे कवि अथवा लेखक ने नाट्यशास्त्र पढ़ा है तो और भी अच्छा है। परन्तु यदि नहीं भी पढ़ा है—नाटक की स्थूल ही प्रणाली वह जानता है तो भी उसके रचित नाटक से मनुष्यों का अवश्य मनोरंजन होगा।

अनुकरण करने की शक्ति का होना उसमे प्रधान है। इस शक्ति के विना भरत और धनञ्जय, अरिस्टाटल और ल्यसिग, कार्नील और ड्राइडन वहुत कम काम दे सकते है।

अनुकरण को उत्पन्न करनेवाली इच्छा अथवा शक्ति ही से नाटककार का कार्य आरभ होता है। इस शक्ति के वल से नाटककार के मन मे पहले एक भाव उत्पन्न होता है। भाव के अनन्तर विषय की उत्पत्ति होती है। अतएव भाव ही नाटक का वीज है। भाव पर ही विषय अवलवित रहता है। शाकुन्तल की कथा उसकी सामग्री मात्र है। उसे अनुकरण द्वारा प्रत्यक्ष दिखलाने का भावोदय ही 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का प्रधान कारण है। भावोदय होने पर सामग्री, अर्थात् विषय कवि के इच्छानुकूल घट-वढ सकता है। यदि कवि चाहे तो सारे ससार को वह अपने नाटक का विषय कर सकता है। नाटक की सामग्री को नाटककार आचार-व्यवहार के अनुसार, रूढि के अनुसार, मनुष्य की रुचि के अनुसार और स्वय अपने आग्रह अथवा अनुभव के अनुसार न्यूनाधिक किंवा परिवर्तित अवस्था में दिखला सकता है। परन्तु विषय अर्थात् सामग्री, का कार्य मे परिणत होना अर्थात् अनुकरण द्वारा भली भाँति दिखलाया जाना, नाटककार के लिए सवसे अधिक आवश्यक काम है। अपूर्ण और अनुचित अनुकरण अभिनय-दर्शको को कदापि अच्छा नही लगता। यथार्थ अभिनय होने के लिए नाटककार को मनुष्य-मात्र की चित्तवृत्ति से परिचित होना चाहिए, सव प्रकार के व्यवहार, सव प्रकार की मानुषिक चेष्टाये, सव प्रकार की वातचीत और सव प्रकार की रसज्ञता का ज्ञान उसे होना चाहिए, जो रूप जो व्यक्ति धारण करे उसे उसी का वेश, उसी की चाल, उसी की वाणी, उसी की चेष्टा और उसी की मनोवृत्ति का यथार्थ, याथातथ्य, जैसे का तैसा, अभिनय करके दिखलाना चाहिए। यह अनुकरण ऐसा उत्तम होना चाहिए कि देखनेवालो के मन में यह भाव न उदित हो कि वे नाटक देख रहे है। उन्हे यही भासित

होना चाहिए कि वे अभिनय की नई घटना का प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे है। इसकी सिद्धता का सबसे बडा प्रमाण यह है कि देखनेवाले अभिनय करनेवाले ही के से विचार प्रकट करने लगें। अर्थात् अभिनयकार को कारुणिक अभिनय करते देख देखनेवाले की आँखो से आँसू गिरने लगे। उसे भयभीत हुआ देख वे भी भयभीत हो जायँ। और उसके हास्य-रस पूरित अभिनय को देख दर्शक भी हँसने लगे। इन बातो का होना तभी सभव है जब कवि मनुष्य जाति के मानसिक विकारो से पूरा-पूरा परिचित होकर उनका अनुभव स्वय अपने मन मे कर सकता है और उसके साथ ही सब प्रकार के व्यवहारो मे दक्ष भी होता है। क्योकि, इन्ही बातो को कवि व्यक्ति विशेषो के द्वारा अभिनयपूर्वक दिखलाता है। अतएव नाटककार होना बहुत कठिन काम है।

मनोरजकता का प्रधान कारण रस है। रस की सिद्धि अभिनय पर अवलवित रहती है। यदि अभिनय अच्छा न हुआ तो रसहानि हो जाती है, और रसहानि होने से नाटक ही का सत्यानाश हो जाता है। रसहानि न होने के लिए अभिनय द्वारा दिखलाई गई वस्तु का यथार्थ अनुकरण होना चाहिए। जीवन की घटनाये, इतिहास मे वर्णन की गई बाते, नाटक के विषय से सबध रखनेवाली कथाये, ये सब, एक प्रकार की प्रचण्ड लहरे है। इन सब को अस्त-व्यस्त न बहने देना चाहिए। इन्हे एक शृखला से बाँधकर यथास्थान रखना और अपेक्षानुसार, जिसका जब समय आवे, उठने देना चाहिए। अर्थात् अनेक बातो को एक शृखला से बाँधकर यथाक्रम, यथा समय और यथोचित रीति पर उनका अभिनय करना चाहिए। जिस वस्तु का अभिनय होता है उसके सब अवयव जब यथास्थान रखकर उचित शब्द, उचित वेश भूषा और उचित अग-भगी द्वारा दिखाए जाते है तभी देखनेवालो को आनन्द मिलता है।

अभिनय पूर्ण होना चाहिए। उसका अपूर्ण रह जाना दोष है। इति-

मज़दूरी और प्रेम

श्री अध्यापक पूर्णसिंह

हल चलानेवाले का जीवन

हल चलाने वाले और भेड चरानेवाले प्राय स्वभाव से ही साधु होते है। हल चलानेवाले अपने शरीर का हवन किया करते है। खेत उनकी हवनशाला है। उनके हवनकुण्ड की ज्वाला की किरणे चावल के लवे और सफेद दानो के रूप मे निकलती है। गेहूँ के लाल-लाल दाने इस अग्नि की चिनगारियो की डालियाँ-सी है। मैं जब कभी अनार के फूल और फल देखता हूँ तब मुझे बाग के माली का रुधिर याद आ जाता है। उसकी मेहनत के कण जमीन मे गिरकर उगे है, और हवा तथा प्रकाश की सहायता से वे मीठे फलो के रूप मे नजर आ रहे है। किसान मुझे अन्न मे, फूल मे, फल मे आहुत हुआ-सा दिखाई देता है। कहते है, ब्रह्माहुति से जगत पैदा हुआ है। अन्न पैदा करने मे किसान भी ब्रह्म के समान है। खेती उसके ईश्वरी प्रेम का केन्द्र है। उसका सारा जीवन पत्ते-पत्ते मे, फूल-फूल मे, फल-फल मे बिखर रहा है। वृक्षो की तरह उसका भी जीवन एक तरह का मौन जीवन है। वायु, जल, पृथ्वी, तेज और आकाश की नीरोगिता इसके हिस्से मे है। विद्या यह नही पढा, जप और तप यह नही करता, सन्ध्या-वदनादि इसे नही आते, ज्ञान, ध्यान का इसे पता नही, मसजिद, गिरजे, मन्दिर से इसे सरोकार नही, केवल साग-पात खाकर ही यह अपनी भूख निवारण कर लेता है। ठडे चश्मे और बहती हुई नदियो के शीतल

भूखो और नगो का पालनेवाला, समाज के पुष्पोद्यान का माली और खेतो का वाली जा रहा है।

गड़रिये का जीवन

एक बार मैने एक बुड्ढे गडरिये को देखा। घना जगल है। हरे-हरे वृक्षो के नीचे उसकी सफेद ऊन वाली भेडे अपना मुँह नीचा किये हुए कोमल कोमल पत्तियाँ खा रही है। गडरिया बैठा आकाश की ओर देख रहा है। ऊन कातता जाता है। उसकी आँखो मे प्रेम-लाली छाई हुई है। वह नीरोगिता की पवित्र मदिरा से मस्त हो रहा है। बाल उसके सारे सफेद होते है। और, क्यो न सफेद हो ? सफेद भेडो का मालिक जो ठहरा। परन्तु उसके कपोलो से लाली फूट रही है। बरफानी देशो मे वह मानो विष्णु के समान क्षीरसागर मे लेटा है। उसकी प्यारी स्त्री उसके पास रोटी पका रही है। उसकी दो जवान कन्याएँ उनके साथ जगल-जगल भेड चराती घूमती है। अपने माता-पिता और भेडो को छोडकर उन्होने और किसी को नही देखा। मकान इनका बेमकान है, इनका घर बेघर है, ये लोग बेनाम और बेपता है।

किसी घर मे न घर कर बैठना इस दारे फानी मे।
ठिकाना बेठिकाना और मकाँ बर ला-मकाँ रखना ॥

इस दिव्य परिवार को कुटी की ज़रूरत नही। जहाँ जाते है एक घास की झोपडी बना लेते है। दिन को सूर्य और रात को तारागण इनके सखा है।

गडरिये की कन्या पर्वत के शिखर के ऊपर खडी सूर्य का अस्त होना देख रही है। उसकी सुनहरी किरणे इसके लावण्यमय मुख पर पड रही है। यह सूर्य को देख रही है और वह उसको देख रहा है।

नन्द का समाँ बाँध दिया। मेरे पास मेरा भाई खडा था। मैंने उससे कहा—"भाई अब मुझे भी भेडे ले दो।" ऐसे ही मूक जीवन से मेरा भी कल्याण होगा। विद्या को भूल जाऊँ तो अच्छा है। मेरी पुस्तके खो जाये तो उत्तम है। ऐसा होने से कदाचित् इस वनवासी परिवार की तरह मेरे दिल के नेत्र खुल जायँ और मैं ईश्वरी झलक देख सकूँ। चन्द्र और सूर्य की विस्तृत ज्योति मे जो वेद-गान हो रहा है, उसे इन गडरियो की कन्याओ की तरह मैं सुन तो न सकूँ, परन्तु कदाचित् प्रत्यक्ष देख सकूँ। कहते हैं, ऋषियो ने भी, इनको देखा ही था, सुना न था। पण्डितो की ऊटपटाग बातो से मेरा जी उकता गया है। प्रकृति की मद-मंद हँसी मे ये अनपढ लोग ईश्वर के हँसते हुए ओठ देख रहे हैं। पशुओ के अज्ञान मे गभीर ज्ञान छिपा हुआ है। इन लोगो के जीवन मे अद्भुत आत्मानुभव भरा हुआ है। गडरिये के परिवार की प्रेम-मजदूरी का मूल्य कौन दे सकता है ?

मज़दूर की मज़दूरी

आपने चार आने पैसे मजदूर के हाथ पर रखकर कहा—"यह लो दिन भर की अपनी मजदूरी।" वाह क्या दिल्लगी है ? हाथ, पाँव, सिर, आँख इत्यादि सब के सब अवयव उसने आपको अर्पण कर दिये। ये सब चीजे उसकी तो थी ही नही, ये तो ईश्वरीय पदार्थ थे। जो पैसे आपने उसको दिये वे भी आपके न थे। वे तो पृथिवी से निकली हुई धातु के टुकडे थे, अतएव ईश्वर के निर्मित थे। मजदूरी वा ऋण तो परस्पर की प्रेम-सेवा से चुकता होता है, अन्न-धन देने से नही। वे तो दोनो ईश्वर ही के है। अन्न-धन वही बनाता है और जल भी वही देता है। एक जिल्दसाज ने मेरी एक पुस्तक की जिल्द बाँध दी। मैं तो इस मजदूर को कुछ भी न दे सका। परन्तु उसने मेरी उम्र भर के लिए एक विचित्र वस्तु मुझे दे डाली। जब कभी मैंने उस पुस्तक को उठाया मेरे हाथ जिल्दसाज के हाथ पर जा

यन्त्रो की सहायता से बने हुए फोटो निर्जीव-से प्रतीत होते है। उनमे और हाथ के चित्रो मे उतना ही भेद है जितना कि बस्ती और श्मशान मे।

हाथ की मेहनत से चीज मे जो रस भर जाता है वह भला लोहे के द्वारा बनाई हुई चीज मे कहाँ। जिस आलू को मै स्वय बोता हूँ, मै स्वय पानी देता हूँ, जिसके इर्द-गिर्द की घास-पात को खोदकर मै साफ करता हूँ, उस आलू मे जो रस मुझे आता है वह टीन मे बद किए हुए अचार-मुरब्बे मे नही आता। मेरा विश्वास है कि जिस चीज मे मनुष्य के प्यारे हाथ लगते है, उसमे उसके हृदय का प्रेम और मन की पवित्रता सूक्ष्म रूप से मिल जाती है और उसमे मुर्दो को जिन्दा करने की शक्ति आ जाती है। होटल मे बने हुए भोजन यहाँ नीरस होते है, क्योकि वहाँ मनुष्य मशीन बना दिया जाता है। परन्तु अपनी प्रियतमा के हाथ के बने हुए रूखे-सूखे भोजन मे कितना रस होता है। जिस मिट्टी के घडे को कन्धो पर उठाकर, मीलो दूर से उसमे मेरी प्रेममग्न प्रियतमा ठडा जल भर लाती है, उस लाल घडे का जल जब मै पीता हूँ तब जल क्या पीता हूँ, अपनी प्रेयसी के प्रेमामृत को पान करता हूँ। जो ऐसा प्रेम-प्याला पीते हो उनके लिए शराब क्या वस्तु है? प्रेम से जीवन सदा गद्‌गद् रहता है। मै अपने प्रेयसी की ऐसी प्रेम-भरी, रसभरी दिल-भरी सेवा का बदला क्या कभी दे सकता हूँ?

उधर प्रभात ने अपनी सुफेद किरणो से अँधेरी रात पर सुफेदी-सी छिटकी, इधर मेरी प्रेयसी मैना अथवा कोयल की तरह अपने बिस्तर से उठी। उसने गाय का बछडा खोला, दूध की धारो से अपना कटोरा भर लिया। गाते-गाते अन्न को अपने हाथो से पीसकर सुफेद आटा बना लिया। इस सुफेद आटे से भरी हुई छोटी-सी टोकरी सिर पर, एक हाथ मे दूध से भरा हुआ लाल मिट्टी का कटोरा, दूसरे हाथ मे मक्खन की हाँडी। जब मेरी प्रिया घर की छत के नीचे इस तरह खडी होती है तब वह छत के ऊपर की श्वेत प्रभा से भी अधिक आनन्ददायक, बलदायक, बुद्धिदायक

कि निकम्मे पादडियो, मौलवियो, पडितो और साधुओ का, दान के अन्न पर पला हुआ ईश्वर-चितन, अन्त मे पाप, आलस्य और भ्रष्टाचार मे परिवर्तित हो जाता है। जिन देशो मे हाथ और मुँह पर मजदूरी की धूल नही पडने पाती वे धर्म और कला-कौशल मे कभी उन्नति नही कर सकते। पद्मासन निकम्मे सिद्ध हो चुके है। वही आसन ईश्वर-प्राप्ति करा सकते है जिनसे जोतने, वोने, काटने और मजदूरी का काम लिया जाता है। लकडी, ईट, पत्थर को मूर्तिमान करनेवाले लुहार, वढई, मेमार तथा किसान आदि वैसे ही पुरुष है जैसे कवि, महात्मा और योगी आदि। उत्तम-से-उत्तम और नीच से नीच काम, सव के सव प्रेम-शरीर के अग है।

निकम्मे रहकर मनुष्य की चितन-शक्ति थक गई है। विस्तरो और आसनो पर सोते और वैठे मन के घोडे हार गये है। सारा जीवन निचुड चुका है। स्वप्न पुराने हो चुके है। आजकल की कविता मे नयापन नही। उसमे पुराने जमाने की कविता की पुनरावृत्ति-मात्र है। इस नकल मे असल की पवित्रता और कुँवारेपन का अभाव है। अव तो एक नए प्रकार का कला-कौशल-पूर्ण सगीत साहित्य-ससार मे प्रचलित होनेवाला है। यदि वह न प्रचलित हुआ तो मशीन के पहियो के नीचे दवकर हमे मरा समझिये। यह नया साहित्य मजदूरो के हृदयो से निकलेगा। उन मजदूरो के कठ से यह नई कविता निकलेगी जो अपना जीवन आनन्द के साथ खेत की मेडो का, कपडे के तागो का, जूते के टॉको का, लकडी के रगो का, पत्थर की नसो का भेदभाव दूर करेगे। हाथ मे कुल्हाडी, सिर पर टोकरी, नगे सिर और नगे पाव, धूल से लिपटे और कीचड से रँगे हुये ये वेजवान कवि जव जगल मे लकडी काटेगे तव लकडी काटने का शब्द इनके असभ्य स्वरो से मिश्रित होकर वायुयान पर चढ दशो दिशाओ मे ऐसा अद्भुत गान करेगा कि भविष्यत् के कलावतो के लिए वही ध्रुपद और मलार का काम देगा। चरखा कातने वाली स्त्रियो के गीत ससार के सभी देशो के कौमी गीत होगे। मजदूरो की

खेल वासी, उनका विश्वास वासी और उनका खुदा भी वासी हो गया। इसमे सन्देह नही कि इस साल के गुलाव के फूल भी वैसे ही है जैसे पिछले साल के थे। परन्तु इस साल वाले ताजे है। इनकी लाली नई है, इनकी सुगन्धि भी इन्ही की अपनी है। जीवन के नियम नही पलटते; वे सदा एक ही-से रहते है। परन्तु मजदूरी करने से मनुष्य को एक नया और ताजा खुदा नजर आने लगता है।

गेरुए वस्त्रो की पूजा क्यो करते हो ? गिरजे की घटी क्यो सुनते हो ? रविवार क्यो मनाते हो ? पाच वक्त की नमाज क्यो पढते हो ? त्रिकाल सन्ध्या क्यो करते हो ? मजदूर के अनाथ नयन, अनाथ आत्मा और अनाश्रित जीवन की वोली सीखो। फिर देखोगे कि तुम्हारा यही साधारण जीवन ईश्वरीय भजन हो गया।

मजदूरी तो मनुष्य के समष्टि रूप का व्यष्टि-रूप परिणाम है, आत्मा रूपी धातु के गढे हुए सिक्के का नगदी वयाना है, जो मनुष्यो की आत्माओ को खरीदने के वास्ते दिया जाता है। सच्ची मित्रता ही तो सेवा है। उससे मनुष्यो के हृदय पर सच्चा राज्य हो सकता है। जाति-पाँति रूप-रग और नाम-धाम तथा वाप-दादे का नाम पूछे विना ही अपने आपको किसी के हवाले कर देना प्रेम-धर्म का तत्त्व है। जिस समाज मे इस तरह के प्रेम-धर्म का राज्य होता है उसका हर कोई हर किसी को विना उसका नाम-धाम पूछे ही पहचानता है, क्योकि पूछने वाले का कुल और उसकी जात वहाँ वही होती है जो उसकी, जिससे कि वह मिलता है। वहाँ सव लोग एक ही माता-पिता से पैदा हुए भाई-वहन है। अपने ही भाई-वहनो के माता पिता का नाम पूछना क्या पागलपन से कम समझा जा सकता है ? यह सारा ससार एक कुटुम्ववत् है। लँगडे, लूले, अन्धे और वहरे उसी मौरूसी छत के नीचे रहते है जिसकी छत के नीचे वलवान् नीरोग और रूपवान् कुटुम्वी रहते है। मूढो और पशुओ का पालन-पोपण वुद्धिमान्, सवल और नीरोग ही तो करेगे।

आनन्द और प्रेम की राजधानी का सिंहासन सदा से प्रेम और मजदूरी के ही कन्धो पर रहता आया है। कामना सहित होकर भी मजदूरी निष्काम होती है, क्योकि मजदूरी का वदला ही नही। निष्काम कर्म करने के लिए जो उपदेश दिये जाते है उनमे अभावशील वस्तु सुभावपूर्ण मान ली जाती है। पृथ्वी अपने ही अक्ष पर दिन-रात घूमती है। यह पृथ्वी का स्वार्थ कहा जा सकता है परन्तु उसका यह घूमना सूर्य के इर्द-गिर्द घूमना सूर्य्य-मडल के साथ आकाश मे एक सीधी लकीर पर चलना है। अन्त मे, इसका गोल चक्कर खाना सदा ही सीधा चलना है। इसमे स्वार्थ का अभाव है। इसी तरह मनुष्य की विविध कामनाये उसके जीवन को मानो उसके स्वार्थ रूपी धुरे पर चक्कर देती है। परन्तु उसका जीवन तो अपना है ही नही, वह तो किसी आध्यात्मिक सूर्य मडल के साथ की चाल है और अन्तत यह चाल जीवन का परमार्थ-रूप है। स्वार्थ का यहाँ भी अभाव है। जब स्वार्थ कोई वस्तु ही नही तव निष्काम और कामना-पूर्ण कर्म करना दोनो ही एक वात हुई। इसलिए मजदूरी और फकीरी का अन्योन्याश्रय-सवध है।

मजदूरी करना जीवनयात्रा का आध्यात्मिक नियम है। जोन आव् आर्क (Joan of Arc) की फकीरी और भेडे चराना, टाल्सटाय का त्याग और जूते गाँठना, उमर खैयाम का प्रसन्नतापूर्वक तवू सीते फिरना, खलीफा उमर का अपने रगमहलो मे चटाई आदि वुनना, ब्रह्मज्ञानी कवीर और रैदास का शूद्र होना, गुरु नानक और भगवान् श्रीकृष्ण का मूक पशुओ को लाठी लेकर हाँकना—सच्ची फकीरी का अनमोल भूषण है।

समाज का पालन करनेवाली दूध की धारा

एक दिन गुरु नानक यात्रा करते-करते भाई लालो नाम के एक वढई के घर ठहरे। उस गाँव का भागो नामक रईस वडा मालदार था। उस दिन भागो के घर ब्रह्मभोज था। दूर-दूर से साधु आये हुए थे। गुरु नानक का आगमन सुन कर भागो ने

उन्हें भी निमन्त्रण भेजा। गुरु ने भागो का अन्न खाने से इनकार कर दिया। इस बात पर भागो को बड़ा क्रोध आया। उसने गुरु नानक को बलपूर्वक पकड़ मँगाया और उनसे पूछा कि आप मेरे यहाँ का अन्न क्यों नहीं ग्रहण करते ? गुरुदेव ने उत्तर दिया—भागो ! अपने घर का हलवा-पूरी ले आओ तो हम इसका कारण बतला दें। वह हलवा पूरी लाया तो गुरु नानक ने लालो के घर से भी उसके मोटे अन्न की रोटी मँगवाई। भागो की हलवा-पूरी उन्होंने एक हाथ में और भाई लालो की मोटी रोटी दूसरे हाथ में लेकर दोनों को जो दबाया तो एक से लोहू टपका और दूसरे में दूध की धारा निकली। बाबा नानक का यही उपदेश हुआ। जो धारा भाई लालो की मोटी रोटी से निकली थी वही समाज का पालन करने वाली दूध की धारा है। यही धारा शिवजी की जटा से और यही धारा मज़दूरों की उँगलियों से निकलती है।

मजदूरी करने से हृदय पवित्र होता है, संकल्प दिव्य लोकान्तर में विचरते हैं। हाथ की मजदूरी ही से सच्चे ऐश्वर्य की उन्नति होती है। जापान में मैंने कन्याओं और स्त्रियों को ऐसी कलावती देखा है कि वे रेशम के छोटे-छोटे टुकड़ों को अपनी दस्तकारी की बदौलत हजारों की कीमत का बना देती हैं, नाना प्रकार के प्राकृतिक पदार्थों और दृश्यों को अपनी सुई से कपड़े के ऊपर अंकित कर देती हैं। जापान-निवासी कागज, लकड़ी और पत्थर की बड़ी अच्छी मूर्तियाँ बनाते हैं। करोड़ों रुपये के हाथ के बने हुए जापानी खिलौने विदेशों में बिकते हैं। हाथ की बनी हुई जापानी चीजें मशीन से बनी हुई चीजों को मात करती हैं। संसार के सब बाजारों में उनकी बड़ी माँग रहती है। पश्चिमी देशों के लोग हाथ की बनी हुई जापान की अद्भुत वस्तुओं पर जान देते हैं। एक जापानी तत्वज्ञानी का कथन है कि हमारी दस करोड़ उँगलियाँ सारे काम करती हैं। इन उँगलियों ही के बल से सम्भव है हम जगत् को जीत लें। ("We shall beat the

world with the tips of our fingers") जब तक धन और ऐश्वर्य की जन्मदात्री हाथ की कारीगरी उन्नत नहीं होती तब तक भारतवर्ष ही को क्या, किसी भी देश या जाति की दरिद्रता दूर नहीं हो सकती। यदि भारत की तीस करोड़ नर-नारियों की उंगलियां मिलकर कारीगरी के काम करने लगें तो उनकी मजदूरी की बदौलत कुबेर का महल उनके चरणों में आप ही आप आ गिरे।

अन्न पैदा करना तथा हाथ की कारीगरी और मिहनत से जड़ पदार्थों को चैतन्य-चिन्ह से सुसज्जित करना, क्षुद्र पदार्थों को अमूल्य पदार्थों में बदल देना इत्यादि कौशल ब्रह्मरूप होकर धन और ऐश्वर्य की सृष्टि करते हैं। कविता, फकीरी और साधुता के ये दिव्य कला-कौशल जीते-जागते और हिलते-डुलते प्रतिरूप हैं। इनकी कृपा से मनुष्य जाति का कल्याण होता है। ये उस देश में कभी निवास नहीं करते जहां मजदूर और मजदूर की मजदूरी का सत्कार नहीं होता, जहां शूद्र की पूजा नहीं होती। हाथ से काम करने वालों से प्रेम रखने और उनकी आत्मा का सत्कार करने से साधारण मजदूरी सुन्दरता का अनुभव करानेवाले कला-कौशल अर्थात्, कारीगरी का रूप हो जाती है। इस देश में जब मजदूरी का आदर होता था तब इसी आकाश के नीचे बैठे हुए मजदूरों के हाथों ने भगवान् बुद्ध के निर्वाण-सुख को पत्थर पर इस तरह जड़ा था कि इतना काल बीत जाने पर, पत्थर की मूर्ति के ही दर्शन से ऐसी शान्ति प्राप्त होती है जैसी कि स्वयं भगवान् बुद्ध के दर्शन से होती है। मुँह, हाथ, पांव इत्यादि का गढ़ देना साधारण मजदूरी है, परन्तु मन के गुप्त भावों और अंतःकरण की कोमलता तथा जीवन की सभ्यता को प्रत्यक्ष प्रकट कर देना प्रेम-मजदूरी है। शिवजी के ताण्डव-नृत्य को और पार्वती जी के मुख की शोभा को पत्थरों की सहायता से वर्णन करना जड़ को चैतन्य बना देना है। इस देश में कारीगरी का बहुत दिनों से अभाव है। महमूद ने जो सोमनाथ के मन्दिर में प्रतिष्ठित मूर्तियां तोड़ी

थी उससे उसकी कुछ भी वीरता सिद्ध नही होती। उन मूर्तियो को तो हर कोई तोड सकता था। उसकी वीरता की प्रशसा तव होती जव वह यूनान की प्रेम-मजदूरी, अर्थात् वहाँ वालो के हाथ की अद्वितीय कारीगरी प्रकट करने-वाली मूर्तियाँ तोडने का साहस कर सकता। वहाँ की मूर्तियाँ तो वोल रही है—वे जीती जागती है, मुर्दा नही। इस समय के देवस्थानो मे स्थापित मूर्तियाँ देखकर अपने देश की आध्यात्मिक दुर्दशा पर लज्जा आती है। उनसे तो यदि अनगढ पत्थर रख दिये जाते तो अधिक शोभा पाते। जव हमारे यहाँ के मजदूर, चित्रकार तथा लकडी और पत्थर पर काम करने वाले भूखो मरते है तव हमारे मन्दिरो की मूर्तियाँ कैसे सुन्दर हो सकती है? ऐसे कारीगर तो यहाँ शूद्र के नाम से पुकारे जाते है। याद रखिए, विना शूद्र-पूजा के मूर्ति-पूजा किवा कृष्ण और शालग्राम की पूजा होना असम्भव है। सच तो यह है कि हमारे सारे धर्म-कर्म वासी व्राह्मणत्व के छिछोरे-पन से दरिद्रता को प्राप्त हो रहे है। यही कारण है जो आज हम जातीय दरिद्रता मे पीडित है।

पश्चिमी सभ्यता का एक नया आदर्श

पश्चिमी सभ्यता मुख मोड रही है। वह एक नया आदर्श देख रही है। अव उसकी चाल वदलने लगी है। वह कलो की पूजा को छोडकर मनुष्यो की पूजा को अपना आदर्श वना रही है। इस आदर्श के दर्शानेवाले देवता रस्किन और टालस्टाय आदि है। पाश्चात्य देशो मे नया प्रभात होनेवाला है। वहाँ के गभीर विचारवाले लोग इस प्रभात का स्वागत करने के लिए उठ खडे हुए है। प्रभात होने के पूर्व ही उसका अनुभव कर लेनेवाले पक्षियो की तरह इन महात्माओ को इस नये प्रभात का पूर्व ज्ञान हुआ है। और, हो क्यो न? इजनो के पहियो के नीचे दवकर वहाँवालो के भाई-वहन—नही-नही, उसकी सारी जाति—पिस गई, उनके जीवन के धुरे टूट गये,

उनका समस्त धन घरो से निकल कर एक ही दो स्थानो मे एकत्र हो गया।'
साधारण लोग मर रहे है। मजदूरो के हाथ-पाँव फट रहे है, लहू चल रहा है। सरदी मे ठिठुर रहे है। एक तरफ दरिद्रता का अखड राज्य है, दूसरी तरफ अमीरी का चरम दृश्य। परन्तु अमीरी भी मानसिक दुखो से विमर्दित है। मशीने बनाई तो गई थी मनुष्यो का पेट भरने के लिए—मज़दूरो को सुख देने के लिये परन्तु वे काली-काली मशीने ही काली बनकर उन्ही मनुष्यो का भक्षण करजाने के लिए मुख खोल रही है। प्रभात होने पर ये काली-काली बलाये दूर होगी। मनुष्य के सौभाग्य का सूर्योदय होगा।

शोक का विषय है कि हमारे और अन्य पूर्वी देशो मे लोगो को मजदूरी मे तो लेशमात्र भी प्रेम नही, पर वे तैयारी कर रहे है पूर्वोक्त काली मशीनो का आलिगन करने की। पश्चिमवालो के तो ये गले पडी हुई बहती नदी की काली कमली हो रही है। वे छोडना चाहते है, परन्तु काली कमली उन्हे नही छोडती। देखेगे, पूर्ववाले इस कमली को लगाकर कितना आनन्द अनुभव करते है। यदि हममे से हर आदमी अपनी दस उँगलियो की सहायता से साहसपूर्वक अच्छी तरह से काम करे तो हमी मशीनो की कृपा से बढे हुए पश्चिमवालो को, वाणिज्य के जातीय सग्राम मे, सहज ही पछाड सकते है। सूर्य तो सदा पूर्व से पश्चिम की ओर जाता है। पर, आओ, पश्चिम मे आनेवाली सभ्यता के नये प्रभात को हम पूर्व से भेजे।

इजनो की वह मज़दूरी किस काम की जो बच्चो, स्त्रियो और कारीगरो ही को भूखा-नगा रखती है, और केवल सोने, चाँदी, लोहे आदि धातुओं का ही पालन करती है। पश्चिम को विदित हो चुका है कि इनसे मनुष्य का दुख दिन पर दिन बढता है। भारतवर्ष जैसे दरिद्र देश मे मनुष्य के हाथो की मजदूरी के बदले कलो से काम लेना काल का डका बजाना होगा। दरिद्र प्रजा और भी दरिद्र होकर मर जायगी। चेतन से चेतन की वृद्धि

होती है। मनुष्य को तो मनुष्य ही सुख दे सकता है। परस्पर की निष्कपट सेवा ही से मनुष्य-जाति का कल्याण हो सकता है। धन एकत्र करना तो मनुष्य-जाति के आनद-मगल का एक साधारण-सा और महा तुच्छ उपाय है। धन की पूजा करना नास्तिकता है, ईश्वर को भूल जाना है, अपने भाई-वहनो तथा मानसिक सुख और कल्याण के देनेवालो को मारकर अपने सुख के लिए शारीरिक राज्य की इच्छा करना है, जिस डाल पर वैठे है उसी डाल को स्वय ही कुल्हाडे से काटना है। अपने प्रियजनो से रहित राज्य किस काम का ? प्यारी मनुष्य जाति का सुख ही जगत् के मगल का मूल साधन है। विना उसके सुख के अन्य सारे उपाय निष्फल है। धन की पूजा से ऐश्वर्य, तेज, वल और पराक्रम नही प्राप्त होने का। चैतन्य आत्मा की पूजा से ही ये पदार्थ प्राप्त होते है। चैतन्य पूजा ही से मनुष्य का कल्याण हो सकता है। समाज का पालन करने वाली दूध की धारा जव मनुष्य के प्रेममय हृदय, निष्कपट मन और मित्रता-पूर्ण नेत्रो से निकलकर वहती है तव वही जगत् मे सुख के खेतो को हरा-भरा और प्रफुल्लित करती है और वही उनमे फल भी लगाती है। आओ, यदि हो सके तो, टोकरी उठाकर कुदाली हाथ मे ले। मिट्टी खोदे और अपने हाथ से उसके प्याले वनावे। फिर एक-एक प्याला घर-घर मे कुटिया-कुटिया मे रख आवे और सव लोग उसी मे मजदूरी का प्रेमामृत पान करे।

है रीत आशिको की तन मन निसार करना।
रोना सितम उठाना और उनको प्यार करना॥

करुणा

स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

जव बच्चे को कार्य-कारण-सवध कुछ-कुछ प्रत्यक्ष होने लगता है तभी दु ख के उस भेद की नीव पड जाती है जिसे करुणा कहते है। बच्चा पहले यह देखता है कि जैसे हम है वैसे ही ये और प्राणी भी है और विना किसी विवेचना-क्रम के स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा, वह अपने अनुभवो का आरोप दूसरे प्राणियो पर करता है। फिर कार्य-कारण सवध से अभ्यस्त होने पर दूसरे के दु ख के कारण वा कार्य को देखकर उनके दु ख का अनुमान करता है और स्वय एक प्रकार का दु ख अनुभव करता है। प्राय देखा जाता है कि जव माँ झूठमूठ 'ऊँ ऊँ' करके रोने लगती है तव कोई कोई बच्चे भी रो पडते है।[1] इसी प्रकार जव उनके किसी भाई वा वहन को कोई मारने उठता है तव वे कुछ चचल हो उठते है।[2]

दु ख की श्रेणी मे परिणाम के विचार से करुणा का उलटा क्रोध है। क्रोध जिसके प्रति उत्पन्न होता है उसकी हानि की चेष्टा की जाती है। करुणा जिसके प्रति उत्पन्न होती है उसकी भलाई का उद्योग किया जाता है। किसी पर प्रसन्न होकर भी लोग उसकी भलाई करते है। इस प्रकार पात्र की भलाई की उत्तेजना दु ख और आनन्द दोनो की श्रेणियो मे रखी गई है। आनन्द की श्रेणी मे ऐसा कोई शुद्ध मनोविकार नही है जो पात्र को हानि की

---

१ कार्य।

२ कारण।

उत्तेजना करे, पर दु ख की श्रेणी मे ऐसा मनोविकार है जो पात्र की भलाई की उत्तेजना करता है। लोभ से, जिसे मैने आनन्द की श्रेणी मे रक्खा है, चाहे कभी-कभी और व्यक्तियो वा वस्तुओ को हानि पहुँच जाय पर जिसे जिस व्यक्ति वा वस्तु का लोभ होगा उसकी हानि वह कभी नही करेगा। लोभी महमूद ने सोमनाथ को तोडा, पर भीतर से जो जवाहिरात निकले उनको, खूब सँभालकर रक्खा। नूरजहाँ के रूप के लोभी जहाँगीर ने शेर अफगन को मरवाया पर नूरजहाँ को बडे चैन से रक्खा।

कभी-कभी नम्रता, सज्जनता, धृष्टता, दीनता आदि मनुष्य की स्थायी वासनाएँ, जिन्हे गुण कहते है, तीव्र होकर मनोवेगो का रूप धारण कर लेती है, पर वे मनोवेगो मे नही गिनी जाती।

ऊपर कहा जा चुका है कि मनुष्य ज्यो ही समाज मे प्रवेश करता है, उसके दु ख और सुख का वहुत-सा अश दूसरो की क्रिया वा अवस्था पर निर्भर हो जाता है और उसके मनोविकारो के प्रवाह तथा जीवन के विस्तार के लिए अधिक क्षेत्र हो जाता है। वह दूसरो के दु ख से दुखी और दूसरो के सुख से सुखी होने लगता है। अव देखना यह है कि क्या दूसरो के दु ख से दु खी होने का नियम जितना व्यापक है उतना ही दूसरो के सुख से सुखी होने का भी। मै समझता हूँ, नही। हम अज्ञात-कुल-शील मनुष्य के दु ख को देखकर भी दुखी होते है। किसी दुखी मनुष्य को सामने देख हम अपना दुखी होना तब तक के लिए वन्द नही रखते जव तक कि यह न मालूम हो जाय कि वह कौन है, कहाँ रहता है और कैसा है ? यह और वात है कि यह जानकर कि जिसे पीडा पहुँच रही है उसने कोई भारी अपराध वा अत्याचार किया है, हमारी दया दूर वा कम हो जाय। ऐसे अवसर पर हमारे ध्यान के सामने वह अपराध वा अत्याचार आ जाता है और उस अपराधी वा अत्याचारी का वर्तमान क्लेश हमारे क्रोध की तुष्टि का साधक हो जाता है। साराश यह कि करुणा की प्राप्ति के लिए पात्र मे दु ख के अतिरिक्त और किसी

विशेषता की अपेक्षा नही। पर आनन्दित हम ऐसे ही आदमी के सुख को देख-कर होते हैं जो या तो हमारा सुहृद या सबंधी हो अथवा अत्यत सज्जन, शीलवान् वा चरित्रवान् होने के कारण समाज का मित्र वा हितू हो। यो ही किसी अज्ञात व्यक्ति का लाभ वा कल्याण सुनने से हमारे हृदय मे किसी प्रकार के आनन्द का उदय नही होता। इससे प्रकट है कि दूसरो के दुख से दुखी होने का नियम बहुत व्यापक है और दूसरो के सुख से सुखी होने का नियम उसकी अपेक्षा परिमित है। इसके अतिरिक्त दूसरो को सुखी देखकर जो आनन्द होता है उसका न तो कोई अलग नाम रक्खा गया है और न उसमे वेग या क्रियोत्पादक गुण है। पर दूसरो के दुख के परिज्ञान से जो दुख होता है वह करुणा, दया आदि नामो से पुकारा जाता है और अपने कारण को दूर करने की उत्तेजना करता है।

जब कि अज्ञात व्यक्ति के दुख पर दया बराबर उत्पन्न होती है तब जिस व्यक्ति के साथ हमारा विशेष ससर्ग है, जिसके गुणो से हम अच्छी तरह परिचित है, जिसका रूप हमे भला मालूम होता है उसके उतने ही दुख पर हमे अवश्य अधिक करुणा होगी। किसी भोली-भाली सुन्दरी को, किसी सच्चरित्र परोपकारी महात्मा को, किसी अपने भाई बन्धु को दुख मे देख हमे अधिक व्याकुलता होगी। करुणा की यह सापेक्ष तीव्रता जीवन-निर्वाह की सुगमता और कार्य-विभाग की पूर्णता के उद्देश्य से इस प्रकार परिमित की गई है।

मनुष्य की प्रकृति मे शील और सात्विकता का आदि सस्थापक यही मनोविकार है। मनुष्य की सज्जनता वा दुर्जनता अन्य प्राणियो के साथ उसके सबध वा ससर्ग द्वारा ही व्यक्त होती है। यदि कोई मनुष्य जन्म से ही किसी निर्जन स्थान मे अपना निर्वाह करे तो उसका कोई कर्म सज्जनता वा दुर्जनता की कोटि मे न आयेगा। उसके सब कर्म निर्लिप्त होगे। ससार मे प्रत्येक प्राणी के जीवन का उद्देश्य दुख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति

है। अत सबके उद्देश्यो को एक साथ जोडने से ससार का उद्देश्य सुख का स्थापन और दु ख का निराकरण वा बचाव हुआ। अत जिन कर्मो से ससार के इस उद्देश्य का साधन हो वे उत्तम हैं। प्रत्येक प्राणी के लिए उससे भिन्न प्राणी ससार है। जिन कर्मो से दूसरे के वास्तविक सुख का साधन और दु ख की निवृत्ति हो वे शुभ और सात्विक हैं तथा जिस अन्त करण-वृत्ति से इन कर्मो मे प्रवृत्ति हो वह सात्विक है। कृपा वा प्रसन्नता से भी दूसरो के सुख की योजना की जाती है। पर एक तो कृपा वा प्रसन्नता मे आत्मभाव छिपा रहता है और उसकी प्रेरणा से पहुँचाया हुआ सुख एक प्रकार का प्रतिकार है। दूसरी बात यह है कि नवीन सुख की योजना की अपेक्षा प्राप्त दु ख की निवृत्ति की आवश्यकता अत्यत अधिक है।

दूसरे के उपस्थित दु ख से उत्पन्न दु ख का अनुभव अपनी तीव्रता के कारण मनोवेगो की श्रेणी मे माना जाता है। पर अपने आचरण द्वारा दूसरे के सभाव्य दु ख का ध्यान वा अनुमान, जिसके द्वारा हम ऐसी बातो से बचते है जिनसे अकारण दूसरे को दु ख पहुँचे, शील वा साधारण सद्वृत्ति के अन्तर्गत समझा जाता है। बोलचाल की भाषा मे तो 'शील' शब्द से चित्त की कोमलता वा मुरौवत ही का भाव समझा जाता है जैसे 'उनकी आँखो मे शील नही है', 'शील तोडना अच्छा नही।' दूसरो का दु ख दूर करना और दूसरो को दु ख न पहुँचाना इन दोनो बातो का निर्वाह करनेवाला नियम न पालने का दोषी हो सकता है पर दु शीलता वा दुर्भाव का नही। ऐसा मनुष्य झूठ बोल सकता है पर ऐसा नही जिससे किसी का कोई काम बिगडे वा जी दुखे। यदि वह कभी बडो की कोई बात न मानेगा तो इस-लिए कि वह उसे ठीक नही जँचती या वह उसके अनुकूल चलने मे असमर्थ है, इसलिए नही कि बडो का अकारण जी दुखे। मेरे विचार के अनुसार 'सदा सत्य बोलना', 'बडो का कहना मानना' आदि नियम के अन्तर्गत है, शील या सद्भाव के अन्तर्गत नही। झूठ बोलने से बहुधा बडे-बडे अनर्थ हो जाते

है इसी से उसका अभ्यास रोकने के लिए यह नियम कर दिया गया कि किसी अवस्था मे झूठ बोला ही न जाय। पर मनोरंजन, खुशामद और शिष्टाचार आदि के बहाने संसार मे बहुत-सा झूठ बोला जाता है जिस पर कोई समाज कुपित नही होता। किसी-किसी अवस्था मे तो धर्म-ग्रन्थो मे झूठ बोलने की इजाजत तक दे दी गई है, विशेषत जब इस नियम भंग-द्वारा अंत करण की किसी उच्च ओर उदार वृत्ति का साधन होता हो। यदि किसी के झूठ बोलने से कोई निरपराध और नि सहाय व्यक्ति अनुचित दड से बच जाय तो ऐसा झूठ बोलना बुरा नही बतलाया गया है, क्योकि नियम शील वा सद्‌वृत्ति का साधक है, समकक्ष नही। मनोवेग-वर्जित सदाचार केवल दंभ है। मनुष्य के अन्त करण मे सात्विकता की ज्योति जगानेवाली यही करुणा है। इसी से जैन और बौद्ध-धर्म मे इसको बडी प्रधानता दी गई है और गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है—

पर-हित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर-पीडा सम नहिं अधमाई।।

यह बात स्थिर और निर्विवाद है कि श्रद्धा का विषय किसी न किसी रूप मे सात्त्विकशीलता ही है। अत करुणा और सात्विकता का संबंध इस बात से और भी प्रमाणित होता है कि किसी पुरुष को दूसरे पर करुणा करते देख तीसरे को करुणा करनेवाले पर श्रद्धा उत्पन्न होती है। किसी प्राणी मे और किसी मनोवेग को देख श्रद्धा नही उत्पन्न होती। किसी को क्रोध, भय, ईर्ष्या, घृणा, आनन्द आदि करते देख लोग उस पर श्रद्धा नही कर बैठते। यह दिखलाया ही जा चुका है कि प्राणियो की आदि अंत करण वृत्ति रागात्मक है। अत मनोवेगो मे से जो श्रद्धा का विषय हो वही सात्विकता का आदि-संस्थापक ठहरा। दूसरी बात यह भी ध्यान देने की है कि मनुष्य का आचरण मनोवेग वा प्रवृत्ति ही का फल है। बुद्धि तो वस्तुओ के रूपो को अलग-अलग दिखला देगी, यह मनुष्य के मनोवेग

पर निर्भर है कि वह उनमे से किसी एक को चुनकर कार्य्य मे प्रवृत्त हो। कुछ दार्शनिको ने तो यहाँ तक दिखलाया है कि हमारे निश्चयो का अन्तिम आधार अनुभव वा कल्पना की तीव्रता ही है, बुद्धि द्वारा स्थिर की हुई कोई वस्तु नही। गीली लकडी को आग पर रखने से हमने एक बार धुआँ उठते देखा, दस बार देखा, हजार बार देखा, अत हमारी कल्पना मे यह व्यापार जम गया और हमने निश्चय किया कि गीली लकडी आग पर रखने से धुआँ होता है। यदि विचार कर देखा जाय तो स्मृति, अनुमान, बुद्धि आदि अन्त करण की सारी वृत्तियाँ केवल मनोवेगो की सहायक है, ये मनो-वेगो के लिए उपयुक्त विषय मात्र ढूँढती है। मनुष्य की प्रवृत्ति पर कल्पना को और मनोवेगो को व्यवस्थित और तीव्र करने वाले कवियो का प्रभाव प्रकट ही है।

प्रिय के वियोग से जो दु ख होता है वह भी करुणा कहलाता है, क्योकि उसमे दया वा करुणा का अश भी मिला रहता है। ऊपर कहा जा चुका है कि करुणा का विपय दूसरे का दु ख है। अत प्रिय के वियोग मे इस विषय की सप्राप्ति किस प्रकार होती है यह देखना है। प्रत्यक्ष निश्चय कराता है और परोक्ष अनिश्चय मे डालता है। प्रिय व्यक्ति के सामने रहने से उसके सुख का जो निश्चय होता रहता है वह उसके दूर होने से अनिश्चय मे परिवर्तित हो जाता है। अस्तु, प्रिय के वियोग पर उत्पन्न करुणा का विषय प्रिय के सुख का अनिश्चय है। जो करुणा हमे साधारण जनो के उपस्थित दु ख से होती है वह करुणा हमे प्रियजनो के सुख के अनिश्चयमात्र से होती है। साधारण जनो का तो हमे दु ख असह्य होता है पर प्रिजजनो के सुख का अनिश्चय ही। अनिश्चित बात पर सुखी व दुखी होना ज्ञानवादियो के निकट अज्ञान है। इसी से इस प्रकार के दु ख वा करुणा को किसी-किसी प्रान्तिक भाषा मे 'मोह' भी कहते है। साराश यह कि प्रिय के वियोग-जनित दु ख मे जो करुणा का अश रहता है उसका विषय प्रिय के सुख का अनि-

श्चय है। राम-जानकी के वन चले जाने पर कौशल्या उनके सुख के अनिश्चय पर इस प्रकार दुखी होती है—

वन को निकरि गए दोउ भाई।
सावन गरजै, भादौं बरसै, पवन चलै पुरवाई।
कौन बिरिछ तर भीजत ह्वै है, राम-लखन दोउ भाई॥

—गीत

प्रेमी को यह विश्वास कभी नही होता कि उसके प्रिय के सुख का ध्यान जितना वह रखता है उतना ससार मे और कोई भी रख सकता है। श्रीकृष्ण गोकुल से मथुरा चले गये जहाँ सब प्रकार का सुख-वैभव था, पर यशोदा इसी सोच मे मरती रही कि —

प्रात समय उठि माखन रोटी को बिन माँगे दैहै?
को मेरे बालक कुँवर कान्ह को छिन-छिन आगे लैहै?

और उद्धव से कहती है—

सँदेसो देवकी सो कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो।
उबटन, तेल और तातौ जल देखत ही भजि जाते॥
जोइ-जोइ माँगत सोइ-सोइ देती क्रम-क्रम करिके न्हाते।
तुम तो टेव जानतिहि ह्वै हौ तऊ मोहि कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल लडैतहि माखन रोटी भावै॥
अब यह 'सूर' मोहि निस बासर बडो रहत जिय सोच।
अब मेरे अलक लडैते लालन ह्वै है करत सँकोच॥

वियोग की दशा मे गहरे प्रेमियो को प्रिय के सुख का अनिश्चय ही नही,

कभी-कभी घोर अनिष्ट की आशंका तक होती है। जैसे एक पति-वियोगिनी स्त्री संदेह करती है—

नदी किनारे धुआँ उठत है, मैं जानू कछु होय।
जिनके कारण मैं जली, वही न जलता होय॥

प्रिय के वियोग-जनित दुःख में जो करुणा का अंश होता है उसे तो मैंने दिखलाया, किन्तु ऐसे दुःख का प्रधान अंग आत्म-पक्ष संबंधी एक और ही प्रकार का दुःख होता है जिसे शोक कहते हैं। जिस व्यक्ति को किसी से घनिष्ठता और प्रीति होती है वह उसके जीवन के बहुत से व्यापारों तथा मनोवृत्तियों का आधार होता है। उसके जीवन का बहुत-सा अंश उसी के संबंध द्वारा व्यक्त होता है। मनुष्य अपने लिए संसार आप बनाता है। संसार तो कहने-सुनने के लिए है, वास्तव में किसी मनुष्य का संसार तो वे ही लोग हैं जिनसे उसका संसर्ग या व्यवहार है। अतः ऐसे लोगों में से किसी का दूर होना उसके लिए उसके संसार के एक अंश का उठ जाना वा जीवन के एक अंग का निकल जाना है। किसी प्रिय वा सुहृद् के चिरवियोग वा मृत्यु के शोक के साथ करुणा वा दया का भाव मिलकर चित्त को बहुत व्याकुल करता है। किसी के मरने पर उसके प्राणी उसके साथ किए हुए अन्याय वा कुव्यवहार तथा उसकी इच्छापूर्ति के संबंध में अपनी त्रुटियों को स्मरण कर और यह सोचकर कि उसकी आत्मा को संतुष्ट करने की संभावना सब दिन के लिए जाती रही, बहुत अधीर और विकल होते हैं।

सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिए करुणा का प्रसार आवश्यक है। समाज-शास्त्र के पश्चिमी ग्रन्थकार कहा करें कि समाज में एक दूसरे की सहायता अपनी-अपनी रक्षा के विचार से की जाती है, यदि ध्यान से देखा जाय तो कर्मक्षेत्र में परस्पर सहायता की सच्ची उत्तेजना देने वाली किसी न किसी रूप में करुणा ही दिखाई देगी। मेरा यह कहना नहीं

कि परस्पर की सहायता का परिणाम प्रत्येक का कल्याण नही है। मेरे कहने का अभिप्राय है कि ससार मे एक दूसरे की सहायता, विवेचना द्वारा निश्चित इस प्रकार के दूरस्थ परिणाम पर दृष्टि रखकर नही की जाती वल्कि मन की प्रवृत्तिकारिणी प्रेरणा से की जाती है। दूसरे की सहायता करने से अपनी रक्षा की भी सभावना है, इस वात वा उद्देश्य का ध्यान प्रत्येक, विशेषकर मच्चे सहायक को तो नही रहता। ऐसे विस्मृत उद्देश्यो का ध्यान तो विश्वात्मा स्वय रखती है, वह उसे प्राणियो की वुद्धि ऐसी चचल और मुडे मुडे भिन्न वस्तु के भरोसे नही छोडती। किस युग मे और किस प्रकार मनुष्यो ने समाजरक्षा के लिए एक दूसरे की सहायता करने के लिए गोष्ठी की होगी, यह समाजशास्त्र के वहुत से वक्ता ही जानते होगे। यदि परस्पर सहायता की प्रवृत्ति पुरखो की उस पुरानी पचायत ही के कारण होती और यदि उसका उद्देश्य वही तक होता जहाँ तक ये समाज-शास्त्र के वक्ता वतलाते हैं तो हमारी दया मोटे, मुसडे और समर्थ लोगो पर जितनी होती उतनी दीन अशक्त और अपाहज लोगो पर नही, जिनसे समाज को उतना लाभ नही। पर इसका विलकुल उलटा देखने मे आताहै। दुखी व्यक्ति जितना ही अधिक असहाय और असमर्थ होगा उतनी ही अधिक उसकेप्रति हमारी करुणा होगी। एक अनाथ अवला को मार खाते देख हमे जितनी करुणा होगी उतनी एक सिपाही वा पहलवान को पिटते देख नही। इससे स्पष्ट है कि परस्पर साहाय्य के जो व्यापक उद्देश्य है उनका धारण करनेवाला मनुष्य का छोटा-सा अत करण नही, विश्वात्मा है।

दूसरो के, विशेषत अपने परिचितो के क्लेश वा करुणा पर जो वेगरहित दु ख होता है उसे सहानुभूति कहते है। शिष्टाचार मे अव इस शव्द का प्रयोग इतना अधिक होने लगा है कि वह निकम्मा-सा हो गया है। अव प्राय इस शव्द से हृदय का कोई सच्चा भाव नही समभा जाता है। सहानुभूति के तार, सहानुभूति की चिट्ठियाँ लोग यो ही भेजा करते है। यह छद्म-

शिष्टता मनुष्य के व्यवहार क्षेत्र मे घुसकर सच्चाई को चरती चली जा रही है ।

करुणा अपना वीज लक्ष्य मे नही फेकती अर्थात् जिस पर करुणा की जाती है वह वदले मे करुणा करनेवाले पर भी करुणा नही करता—जैसा कि क्रोध और प्रेम मे होता है—वल्कि कृतज्ञता, श्रद्धा व प्रीति करना है। वहुत सी औपन्यासिक कथाओ मे यह वात दिखलाई गई है कि युवतियाँ दुष्टो के हाथ से अपना उद्धार करनेवाले युवको के प्रेम मे फँस गई है। उद्वेगशील वगला उपन्यास लेखक करुणा और प्रीति के मेल से वडे ही प्रभावोत्पादक दृश्य उपस्थित करते है ।

मनुष्य के प्रत्यक्ष ज्ञान मे देश और काल की परिमिति अत्यत सकुचित होती है। मनुष्य जिस वस्तु को जिस समय और जिस स्थान पर देखता है उसकी उसी समय और उसी स्थान की अवस्था का अनुभव उसे होता है। पर स्मृति, अनुमान वा उपलब्ध ज्ञान के सहारे मनुष्य का ज्ञान इस परिमिति को लाँघता हुआ अपने देश और काल-सवधी विस्तार वढाता है। उपस्थिति विषय के सवध मे उपर्युक्त भाव प्राप्त करने के लिए यह विस्तार कभी-कभी आवश्यक होता है। मनोवेगो की उपयुक्तता कभी-कभी इस विस्तार पर निर्भर रहती है। किसी मारखाते हुए अपराधी के विलाप पर हमे दया आती है पर जब सुनते है कि कई स्थानो पर कई वार वह वडे-वडे अपराध कर चुका है, इसके आगे भी ऐसे ही अत्याचार करेगा तव हमे अपनी दया की अनुपयुक्तता मालूम हो जाती है। ऊपर कहा जा चुका है कि स्मृति और अनुमान आदि केवल मनोवेगो के सहायक है अर्थात् प्रकारान्तर से वे मनोवेगो के लिए विषय उपस्थित करते है। ये कभी तो आप से आप विपयो को मन के सामने लाते है, कभी किसी विपय के सामने आने पर ये उससे सवव (पूर्वापर वा कार्यकारण सवध) रखने वाले और वहुत से विषय उपस्थित करते है। जो कभी तो सवके सव एक ही मनोवेग के विषय होते है

और उस प्रत्यक्ष विषय से उत्पन्न मनोवेग को तीव्र करते हैं, कभी भिन्न-भिन्न मनोवेगो के विषय होकर प्रत्यक्ष विषय से उत्पन्न मनोवेग को परिवर्तित वा धीमा करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि मनोवेग वा प्रवृत्ति को मन्द करनेवाली, स्मृति अनुमान वा बुद्धि आदि कोई दूसरी अन्त करण-वृत्ति नही है, मन की रागात्मिका क्रिया वा अवस्था ही है।

मनुष्य की सजीवता मनोवेग वा प्रवृत्ति ही मे है। नीतिज्ञो और धार्मिको का मनोवेगो को दूर करने का उपदेश घोर पाखड है। इस विषय मे कवियो का प्रयत्न ही सच्चा है जो मनोविकारो पर सान ही नही चढाते, बल्कि उन्हे परिमार्जित करते हुए सृष्टि के पदार्थो के साथ उनके उपयुक्त सबध-निर्वाह पर जोर देते हैं। यदि मनोवेग न हो तो स्मृति, अनुमान, बुद्धि आदि के रहते हुए भी मनुष्य बिलकुल जड है। प्रचलित सभ्यता और जीवन की कठिनता से मनुष्य अपने इन मनोवेगो को मारने और अशक्त करने पर विवश होता जाता है, इनका पूर्ण और सच्चा निर्वाह उनके लिए कठिन होता जाता है। और इस प्रकार उसके जीवन का स्वाद निकलता जाता है। वन, नदी, पर्वत आदि को देख, आनन्दित होने के लिए अब उसके हृदय मे उतनी जगह नही। दुराचार पर उसे क्रोध वा घृणा होती है, पर झूठे शिष्टाचार के अनुसार उसे दुराचारी की भी मुँह पर प्रशसा करनी पडती है। जीवन-निर्वाह की कठिनता से उत्पन्न स्वार्थ के कारण उसे दूसरे के दु ख की ओर ध्यान देने, उस पर दया करने और उसके दुख की निवृत्ति का सुख प्राप्त करने की फुरसत नही। इस प्रकार मनुष्य, हृदय को दबाकर केवल क्रूर आवश्यकता और कृत्रिम नियमो के अनुसार ही चलने पर विवश और कठ-पुतली सा जड होता जाता है—उसकी भावुकता का नाश हो जाता है। पाखडी लोग मनोवेगो का सच्चा निर्वाह न देख, हताश हो मुँह-बनाकर, कहने लगे हैं—"करुणा छोडो, प्रेम छोडो, क्रोध छोडो, आनन्द छोडो। बस हाथ-पैर हिलाओ, काम करो।"

यह ठीक है कि मनोवेग उत्पन्न होना और वात है और मनोवेग के अनुसार क्रिया करना और वात , पर अनुसारी परिणाम के निरन्तर अभाव से मनोवेगो का अभ्यास भी घटने लगता है। यदि कोई मनुष्य आवश्यकतावश कोई निष्ठुर कार्य अपने ऊपर ले ले तो पहले दो-चार वार उसे दया उत्पन्न होगी पर वार-वार दया का कोई अनुसारी परिणाम वह उपस्थित न कर मकेगा तव धीरे-धीरे उसका दया का अभ्यास कम होने लगेगा।

वहुत से ऐसे अवसर आ पडते है जिसमे करुणा आदि मनोवेगो के अनुसार काम नही किया जा सकता पर ऐसे अवसरो की सख्या का वहुत वढना ठीक नही है। जीवन मे मनोवेग के अनुसारी परिणामो का विरोव प्राय तीन वस्तुओ से होता है—(१) आवश्यकता, (२) नियम और (३) न्याय। हमारा कोई नौकर वहुत वुड्ढा और कार्य करने मे अशक्त हो गया है जिससे हमारे काम मे हर्ज होता है। हमे उसकी अवस्था पर दया हो आती है पर आवश्यकता के अनुरोध से उसे अलग करना पडता है। किसी दुष्ट अफसर के कुवाक्य पर क्रोध तो आता है पर मातहत लोग आवश्यकता के वश उस क्रोध के अनुसार कार्य करने की कौन कहे उसका चिन्ह तक नही प्रकट होने देते। अव नियम को लीजिए। यदि कही पर यह नियम है कि इतना रुपया देकर लोग कोई कार्य करने पाएँ तो जो व्यक्ति रुपया वसूल करने पर नियुक्त होगा वह किसी ऐसे अकिचन को देख, जिसके पास एक पैसा भी न होगा, दया तो करेगा पर नियम के वशीभूत हो उसे वह उस कार्य को करने से रोकेगा। राजा हरिश्चन्द्र ने अपनी रानी शैव्या से अपने ही मृत पुत्र के कफन का कपडा फडवा नियम का अद्भुत पालन किया था। पर यह समझ रखना चाहिए कि यदि शैव्या के स्थान पर कोई दूसरी दुखिया होती तो राजा हरिश्चन्द्र के उस नियम-पालन का उतना महत्व न दिखाई पडता, करुणा ही लोगो की श्रद्धा को अपनी ओर अधिक खीचती है। करुणा का विषय दूसरे का दु ख है, अपना दु ख नही। आत्मीय जनो का दु ख एक

प्रकार से अपना ही दु ख है। इससे राजा हरिश्चन्द्र के नियम-पालन का जितना स्वार्थ से विरोध था उतना करुणा से नही।

न्याय और करुणा का विरोध प्राय सुनने मे आता है। न्याय से उपयुक्त प्रतिकार का भाव समझा जाता है। यदि किसी ने हमसे १०००) उधार लिए तो न्याय यह है कि वह १०००) लौटा दे। यदि किसी ने कोई अपराध किया तो न्याय है कि उसको दण्ड मिले। यदि १०००) लेने के उपरान्त उस व्यक्ति पर कोई आपत्ति पडी और उस की दशा अत्यत शोचनीय हो गई तो न्याय पालने के विचार का विरोध करुणा कर सकती है। इसी प्रकार यदि अपराधी मनुष्य बहुत रोता गिडगिडाता है और कान पकडता है और पूर्ण दड की अवस्था मे अपने परिवार की घोर दुर्दशा का वर्णन करता है तो न्याय के पूर्ण निर्वाह का विरोध करुणा कर सकती है। ऐसी अवस्थाओ मे करुणा करने का सारा अधिकार विपक्षी अर्थात् जिसका रुपया चाहिए वा जिसका अपराध किया गया है उसी को है, न्यायकर्ता वा तीसरे व्यक्ति को नही। जिसने अपनी कमाई के १०००) अलग किए, वा अपराध द्वारा जो क्षति-ग्रस्त हुआ, विश्वात्मा उसी के हाथ मे करुणा ऐसी उच्च सद्वृत्ति के पालन का शुभ अवसर देती है। करुणा सेत का सौदा नही है। यदि न्यायकर्ता को करुणा है तो वह उसकी शान्ति पृथक् रूप से कर सकता है, जैसे ऊपर लिखे मामलो मे वह चाहे तो दुखिया ऋणी को हजार पाँच सौ अपने पास से दे दे वा दडित व्यक्ति तथा उसके परिवार की और प्रकार से सहायता कर दे। उसके लिए भी करुणा का द्वार खुला है।

भारतीय साहित्य की विशेषताएँ

बाबू श्यामसुन्दर दास

समस्त भारतीय साहित्य की सबसे बडी विशेषता उसके मूल मे स्थित समन्वय की भावना है। उसकी यह विशेषता इतनी प्रमुख तथा मार्मिक है कि केवल इसी के बल पर ससार के अन्य साहित्यो के सामने वह अपनी मौलिकता की पताका फहरा सकता है और अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की सार्थकता प्रमाणित कर सकता है।

जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र मे, भारत के ज्ञान, भक्ति तथा कर्म के समन्वय की प्रसिद्धि है तथा जिस प्रकार वर्ण एव आश्रम-चतुष्टय के निरूपण-द्वारा इस देश मे सामाजिक समन्वय का सफल प्रयास हुआ है, ठीक उसी प्रकार साहित्य तथा अन्यान्य कलाओ मे भी भारतीय प्रवृत्ति समन्वय की ओर रही है।

साहित्यिक समन्वय से हमारा तात्पर्य साहित्य मे प्रदर्शित सुख-दु ख, उत्थान-पतन, हर्ष-विषाद आदि विरोधी तथा विपरीत भावो के समीकरण तथा एक अलौकिक आनन्द मे उसके विलीन होने से है।

साहित्य के किसी अग को लेकर देखिए, सर्वत्र यही समन्वय दिखायी देगा। भारतीय नाटको मे ही सुख और दु ख के प्रबल घात-प्रतिघात दिखाये गये है, पर सब का अवसान आनन्द मे ही किया गया है। इसका प्रधान कारण यह है कि भारतीयो का ध्येय सदा से जीवन का आदर्श-स्वरूप उपस्थित करके उसका उत्कर्ष बढाने और उसे उन्नत बनाने का रहा है। वर्तमान स्थिति से उसका इतना सबध नही है जितना भविष्य की सभाव्य उन्नति से है।

हमारे यहाँ यूरोपीय ढग के दु खात नाटक इसीलिए नही देख पडते।' यदि आजकल दो-चार नाटक ऐसे देख भी पडने लगे है तो वे भारतीय आदर्श से दूर और यूरोपीय आदर्श के अनुकरण मात्र है। कविता के ही क्षेत्र में देखिए, यद्यपि विदेशी शासन से पीडित तथा अनेक क्लेशो से सतप्त देश निराशा की चरम सीमा तक पहुँच चुका था और उसके सभी अवलबो की इतिश्री हो चुकी थी, पर फिर भी भारतीयता के सच्चे प्रतिनिधि तत्कालीन महाकवि गोस्वामी तुलसीदास अपने विकार-रहित हृदय से समस्त जाति को आश्वासन देते है—

"भरे भाग अनुराग लोग कहे राम अवध चितवन चितयी है।
विनती सुनि सानन्द हेरि-हँसि करुना-वारि भूमि भिजयी है॥
राम-राज भयो काज सगुन सुभ राजा राम जगत विजयी है।
समरथ बडो सुजान सु साहब सुकृत-सेन हारत जितयी है।"

आनन्द की कितनी महान् भावना है। चित्त किसी अननुभूत आनन्द की कल्पना मे मानो नाच उठा है। हिन्दी-साहित्य के विकास का समस्त युग विदेशीय तथा विजातीय शासन का युग था, परन्तु फिर भी साहित्यिक समन्वय का कभी निरादर नही हुआ। आधुनिक युग के हिन्दी कवियो मे यद्यपि पश्चिमी आदर्शो की छाप पडने लगी है और लक्षणो को देखते हुए इस छाप के अधिकाधिक गहरी हो जाने की सभावना होने लगी है, परन्तु जातीय साहित्य की धारा अक्षुण्ण रखनेवाले कुछ कवि अव भी है।

यदि हम थोडा सा विचार करे तो उपर्युक्त साहित्यिक समन्वयवाद का रहस्य हमारी समझ मे आ सकता है। जब हम थोडी देर के लिए साहित्य को छोडकर भारतीय कलाओ का विश्लेपण करते है तव उनमें भी साहित्य की ही भाँति समन्वय की छाप दिखाई पडती है।

सारनाथ की बुद्ध-भगवान् की मूर्ति मे ही समन्वय की यह भावना

निहित है। बुद्ध की वह मूर्ति उस समय की है जब वे छ महीने की कठिन साधना के उपरान्त अस्थि-पजर मात्र ही रहे होगे, पर मूर्ति मे कही कृशता का पता नही, उसके चारो ओर एक स्वर्गीय आभा नृत्य कर रही है।

इस प्रकार साहित्य मे भी तथा कला मे भी एक प्रकार का आदर्शात्मक साम्य देखकर उसका रहस्य जानने की इच्छा और भी प्रबल होती जाती है। हमारे दर्शनशास्त्र हमारी जिज्ञासा का समाधान कर देते है। भारतीय दर्शनो के अनुसार परमात्मा तथा जीवात्मा मे कुछ भी अन्तर नही, दोनो एक ही है, दोनो सत्य है, चेतन है तथा आनन्द-स्वरूप है।

बन्धन मायाजन्य है। माया अज्ञान है, भेद उत्पन्न करने वाली वस्तु है। जीवात्मा मायाजन्य अज्ञान को दूर कर अपना स्वरूप पहिचानता है और आनन्दमय परमात्मा मे लीन हो जाता है। आनन्द मे विलीन हो जाना ही मानव-जीवन का परम उद्देश्य है। जब हम इस दार्शनिक सिद्धात का ध्यान रखते हुए उपर्युक्त समन्वयवाद पर विचार करते है, तब सारा रहस्य हमारी समझ मे आ जाता है तथा इस विषय मे कुछ कहने-सुनने की आवश्यकता नही रह जाती।

भारतीय साहित्य की दूसरी बडी विशेषता उसमे धार्मिक भावो की प्रचुरता है। हमारे यहाँ धर्म की बडी व्यापक व्यवस्था की गयी है और जीवन के अनेक क्षेत्रो मे उसको स्थान दिया गया है। धर्म मे धारण करने की शक्ति है। अत केवल अध्यात्म पक्ष मे ही नही, लौकिक आचारो-विचारो तथा राजनीति तक मे उसका नियन्त्रण स्वीकार किया गया है। मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को ध्यान मे रखते हुए अनेक सामान्य तथा विशेष धर्मो का निरूपण किया गया है।

वेदो के एकेश्वरवाद, उपनिषदो के ब्रह्मवाद तथा पुराणो के अवतारवाद, और बहुदेववाद की प्रतिष्ठा जन-समाज मे हुई है और तदनुसार हमारा धार्मिक दृष्टि-कोण भी अधिकाधिक विस्तृत तथा व्यापक होता गया

है। हमारे साहित्य पर धर्म की इस अतिशयता का प्रभाव दो प्रधान रूपों मे पडा। आध्यात्मिकता की अधिकता होने के कारण हमारे साहित्य में एक ओर तो पवित्र भावनाओ और जीवन-सबधी गहन तथा गभीर विचारो की प्रचुरता हुई और दूसरी ओर साधारण लौकिक भावो तथा विचारो का विस्तार अधिक नही हुआ।

प्राचीन वैदिक साहित्य से लेकर हिन्दी के वैष्णव साहित्य तक मे हम यही बात पाते है। सामवेद की मनोहारिणी तथा मृदु-गभीर ऋचाओ से लेकर सूर तथा मीरा आदि की सरस रचनाओ तक मे सर्वत्र परोक्ष भावो की अधिकता तथा लौकिक विचारो की न्यूनता देखने मे आती है।

उपर्युक्त मनोवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि साहित्य मे उच्च विचार तथा पूत भावनाएँ तो प्रचुरता से भरी गई, परन्तु उसमे लौकिक जीवन की अनेकरूपता का प्रदर्शन न हो सका। हमारी कल्पना अध्यात्म पक्ष मे तो निस्सीम तक पहुँच गई, परन्तु ऐहिक जीवन का चित्र उपस्थित करने मे कुछ कुठित-सी हो गयी हिन्दी की चरम उन्नति का काल भक्ति-काव्य का काल है, जिसमे उसके साहित्य के साथ हमारे जातीय साहित्य के लक्षणो का सामजस्य स्थापित हो जाता है।

धार्मिकता के भाव से प्रेरित होकर जिस सरस तथा सुन्दर साहित्य का सृजन हुआ, वह वास्तव मे हमारे गौरव की वस्तु है, परन्तु समाज मे जिस प्रकार धर्म के नाम पर ढोग रचे जाते है तथा गुरुडम की प्रथा चल पडती है उसी प्रकार साहित्य मे भी धर्म के नाम पर पर्याप्त अनर्थ होता है। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र मे हम यह अनर्थ दो मुख्य रूपो मे पाते है।

एक तो साप्रदायिक कविता तथा नीरस उपदेशो के रूप मे और दूसरा "कृष्ण" का आधार लेकर की हुई हिन्दी के शृगारी कवियोके रूप मे। हिन्दी मे साप्रदायिक कविता का एक युग ही हो गया है और 'नीति के दोहो' की तो अब तक भरमार है। अन्य दृष्टियो से नही तो कम से कम

शुद्ध साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से ही सही, साम्प्रदायिक तथा उपदेशा-त्मक साहित्य का अत्यत निम्न स्थान है, क्योकि नीरस पदावली मे कोरे उपदेशो मे कवित्व की मात्रा बहुत थोडी होती है। राधा-कृष्ण को आलम्बन मानकर हमारे शृगारी कवियो ने अपने कलुषित तथा वासनामय उद्‌गारो को व्यक्त करने का जो ढग निकाला, वह समाज के लिए हितकर सिद्ध न हुआ।

यद्यपि आदर्श की कल्पना करने वाले कुछ साहित्य-समीक्षक इस शृगारी कविता मे भी उच्च आदर्शो की उद्‌भावना कर लेते है, पर फिर भी हम वस्तुस्थिति की किसी प्रकार अवहेलना नही कर सकते। सब प्रकार की शृगारी कविता ऐसी नही है कि उसमे शुद्ध प्रेम का अभाव तथा कलुषित वासनाओ का ही अस्तित्व हो, पर यह स्पष्ट है कि पवित्र भक्ति का उच्च आदर्श समय पाकर लौकिक शरीर-जन्य तथा वासना-मूलक प्रेम मे परि-णत हो गया था।

भारतीय साहित्य की इन दो प्रधान विशेषताओ का उपर्युक्त विवेचन करके अब हम उसकी दो-एक देशगत विशेषताओ का वर्णन करेगे।

भारत की शस्य-श्यामला भूमि मे जो निसर्ग-सिद्ध सुषमा है, उसमे भारतीय कवियो का चिरकाल से अनुराग रहा है। यो तो प्रकृति की साधारण वस्तुएँ भी मनुष्यमात्र के लिए आकर्षक होती है, परन्तु उसकी सुन्दरतम विभूतियो मे मानव वृत्तियाँ विशेष प्रकार से रमती है।

अरब के कवि मरुस्थल मे बहते हुए किसी साधारण से झरने अथवा ताड के लबे लबे पेडो मे ही सौन्दर्य का अनुभव कर लेते है तथा ऊँटो की चाल मे ही सुन्दरता की कल्पना कर लेते है, परन्तु जिन्होने भारत की हिमाच्छा-दित शैल-माला पर सध्या की सुनहली किरणो की सुषमा देखी है, अथवा जिन्हे घनी अमराइयो की छाया मे कल-कल ध्वनि से बहती हुई निर्झरिणी तथा उसकी समीपवर्तिनी लताओ की वसन्त-श्री देखने का अवसर मिला है

साथ ही जो यहाँ के विशालकाय हाथियो की मतवाली चाल देख चुके है, उन्हे अरब की उपर्युक्त वस्तुओ में सौन्दर्य तो क्या, हाँ उलटे नीरसता, शुष्कता और भद्दापन ही मिलेगा ।

भारतीय कवियो को प्रकृति की सुन्दर गोद मे क्रीडा करने का सौभाग्य प्राप्त है, वे हरे-भरे उपवनो मे तथा सुन्दर जलाशयो के तटो पर विचरण करते तथा प्रकृति के नाना मनोहारी रूपो से परिचित होते है। यही कारण है कि भारतीय कवि प्रकृति के सश्लिष्ट तथा सजीव चित्र जितनी मार्मिकता, उत्तमता तथा अधिकता से अकित कर सकते है तथा उपमा-उत्प्रेक्षाओ के लिए जैसी सुन्दर वस्तुओ का उपयोग कर सकते है, वैसे सूखे देशो के निवासी कवि नही कर सकते । यह भारत-भूमि की ही विशेषता है कि यहाँ के कवियो का प्रकृति-वर्णन तथा तत्सभव सौदर्य-ज्ञान उच्च कोटि का होता है ।

प्रकृति के रम्य रूपो से तल्लीनता की जो अनुभूति होती है, उसका उपयोग कविगण, कभी कभी रहस्यमयी भावनाओ के सचार मे भी करते है । यह अखड भू-मण्डल तथा असख्य ग्रह, उपग्रह, रवि-शशि अथवा जल, वायु, अग्नि, आकाश कितने रहस्यमय तथा अज्ञेय है । इनकी सृष्टि के सचालन आदि के सबध में दार्शनिको अथवा वैज्ञानिको ने जिन तत्वो का निरूपण किया है वे ज्ञानगम्य तथा बुद्धिगम्य होने के कारण नीरस तथा शुष्क है ।

काव्य-जगत् मे इतनी शुष्कता तथा नीरसता से काम नही चल सकता । अत कविगण बुद्धिवाद के चक्कर मे न पडकर व्यक्त प्रकृति के नानारूपो मे एक अव्यक्त किन्तु सजीव सत्ता का सक्षात्कार करते तथा उसमे भाव-मग्न होते है ।

इसे हम प्रकृति-सबधी रहस्यवाद कह सकते है, और व्यापक रहस्यवाद का एक अग मान सकते है। प्रकृति के विविध रूपो मे विविध भावनाओ के

उद्रेक की क्षमता होती है, परन्तु रहस्यवादी कवियो को अधिकतर उसके मधुर स्वरूप से प्रयोजन होता है, क्योकि भावावेश के लिए प्रकृति के मनोहर रूपो की जितनी उपयोगिता है, उतनी दूसरे रूपो की नही होती।

यद्यपि इस देश की उत्तर-कालीन विचारधारा के कारण हिन्दी मे बहुत थोडे रहस्यवादी-कवि हुए है, परन्तु कुछ प्रेम-प्रधान कवियो ने भारतीय मनोहर दृश्यो की सहायता से अपनी रहस्यमय उक्तियो को अत्यधिक सरस तथा हृदयग्राही वना दिया है। यह भी हमारे साहित्य की एक देश-गत विशेपता है।

ये जाति-गत तथा देश-गत विशेपताएँ तो हमारे साहित्य के भाव-पक्ष की है। इनके अतिरिक्त उसके कलापक्ष मे भी कुछ स्थायी जातीय मनो-वृत्तियो का प्रतिविव अवश्य दिखाई देता है। कलापक्ष से हमारा अभिप्राय केवल शव्द-सगठन अथवा छद-रचना तथा विविध आलकारिक प्रयोगो मे ही नही है, प्रत्युत उसमे भावो को व्यक्त करने की शैली भी सम्मिलित है। यद्यपि प्रत्येक कविता के मूल मे कवि का व्यक्तित्व अतर्निहित रहता है ओर आवश्यकता पडने पर उस कविता के विश्लेषणद्वारा हम कवि के आदर्शो तथा उसके व्यक्तितत्व से परिचित हो सकते है, परन्तु साधारणत हम यह देखते है कि कुछ कवियो मे प्रथम पुरुप एक वचन के प्रयोग की प्रवृत्ति अधिक होती है तथा कुछ कवि अन्य पुरुप मे अपने भाव प्रकट करते है।

अँग्रेजी मे इसी विभिन्नता के आधार पर कविता के व्यक्तिगत तथा अव्यक्तिगत नामक भेद हुए है, परन्तु ये विभेद वास्तव मे कविता के नही ह, उसकी शेली के है। दोनो प्रकार की कविताओ मे कवि के आदर्शो का अभिव्यजन होता है, केवल इस अभिव्यजन के ढग मे अतर रहता है। एक मे वे आदर्श, आत्म-कथन अथवा आत्म-निवेदन के रूप मे व्यक्त किए जाते है तथा दूसरे मे उन्हे व्यजित करने के लिए वर्णनात्मक प्रणाली का आधार ग्रहण किया जाता है।

भारतीय कवियो मे दूसरी (वर्णनात्मक) शैली की अधिकता तथा पहली की न्यूनता पाई जाती है। यही कारण है कि यहाँ वर्णनात्मक काव्य अधिक है तथा कुछ भक्त कवियो की रचनाओ के अतिरिक्त उस प्रकार की कविता का अभाव है, जिसे गीत-काव्य कहते है और जो विशेषकर पदो के रूप मे लिखी जाती है।

साहित्य के कला-पक्ष की अन्य महत्वपूर्ण जातीय विशेषताओ से परिचित होने के लिए हमे उसके शब्द-समुदाय पर ध्यान देना पडेगा, साथ ही भारतीय सगीत-शास्त्र की कुछ साधारण बाते भी जान लेनी होगी। वाक्य-रचना के विविध भेदो, शब्द-गत तथा अर्थगत अलकारो और अक्षर-मात्रिक अथवा लघु-गुरु-मात्रिक आदि छद समुदायो का विवेचन भी उपयोगी हो सकता है, परन्तु एक तो ये विषय इतने विस्तृत है कि इन पर यहाँ विचार करना सभव नही और दूसरे इनका सबध साहित्य के इतिहास से उतना नही है जितना व्याकरण, अलकार और पिगल से है। तीसरी बात यह भी है कि इनमे जातीय विशेषताओ की कोई स्पष्ट छाप भी नही देख पडती, क्योकि ये सब बाते थोडे बहुत अतर से प्रत्येक देश के साहित्य मे पाई जाती है।

उपन्यास

श्री प्रेमचन्द

उपन्यास की परिभाषा विद्वानो ने कई प्रकार से की है, लेकिन यह कायदा है कि चीज जितनी ही सरल होती है उसकी परिभाषा उतनी ही मुश्किल होती है। कविता की परिभाषा आजतक नही हो सकी। जितने विद्वान् है उतनीही परिभाषाएँ है। किन्ही दो विद्वानो की राये नही मिलती। उपन्यास के विषय मे भी यही बात कही जा सकती है। इसकी कोई ऐसी परिभाषा नही है जिस पर सभी लोग सहमत हो।

मै उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यो को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।

किन्ही भी दो आदमियो की सूरते नही मिलती, उसी भाँति आदमियो के चरित्र भी नही मिलते। जैसे सब आदमियो के हाथ, पाँव, आँखे, कान, नाक, मुँह होते है—पर इतनी समानता पर भी जिस तरह उनमे विभिन्नता मौजूद रहती है, उसी भाँति सब आदमियो के चरित्रो मे भी बहुत कुछ समानता होते हुए कुछ विभिन्नताये होती है। यही चरित्र-सबधी समानता और विभिन्नता—अभिन्नत्व मे भिन्नत्व और भिन्नत्व मे अभिन्नत्व, दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्तव्य है।

सन्तान-प्रेम मानव-चरित्र का एक व्यापक गुण है। कौन प्राणी होगा जिसे अपनी सन्तान प्यारी न हो। लेकिन इस सन्तान-प्रेम की मात्राये है—उनके भेद है। कोई तो सन्तान के लिए मर मिटता है, उसके लिए कुछ छोड जाने के लिए आप नाना प्रकार के कष्ट झेलता है, लेकिन धर्म

भीरुता के कारण अनुचित रीति से धन सचय नही करता। उसे शका होती है कि कही इसका परिणाम हमारी सन्तान के लिए बुरा न हो। कोई ऐसा होता है कि औचित्य का लेश-मात्र भी विचार नही करता—जिस तरह भी हो कुछ धन-सचय कर जाना अपना ध्येय समझता है, चाहे इसके लिए उसे दूसरो का गला ही क्यो न काटना पडे—वह सन्तान-प्रेम पर अपनी आत्मा को भी बलिदान कर देता है। एक तीसरा सन्तान-प्रेम वह है, जहाँ सन्तान का चरित्र प्रधान कारण होता है—जब कि पिता सन्तान को कुचरित्र देखकर उससे उदासीन हो जाता है—उसके लिए कुछ छोड जाना या कर जाना व्यर्थ समझता है। अगर आप विचार करेगे तो इसी सन्तान-प्रेमके अगणित भेद आपको मिलेगे। इसी भाँति अन्य मानव-गुणो की भी मात्राएँ और भेद है। हमारा चरित्राध्ययन जितना ही सूक्ष्म—जितना ही विस्तृत होगा, उतनी सफलता से हम चरित्रो का चित्रण कर सकेगे। सन्तान-प्रेम की एक दशा यह भी है, जब पुत्र को कुमार्ग पर चलते देखकर पिता उसका घातक शत्रु हो जाता है। वह भी सन्तान-प्रेम ही है जब पिता के लिए पुत्र घी का लड्डू होता है, जिसका टेढापन उसके स्वाद मे बाधक नही होता। वह सन्तान-प्रेम भी देखने मे आता है जहाँ शराबी जुआरी पिता पुत्र-प्रेम के वशीभूत होकर ये सारी बुरी आदते छोड देता है।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि उपन्यासकार को इन चरित्रो का अध्ययन करके उनको पाठक के सामने रख देना चाहिए—उनमे अपनी तरफ से काट-छाँट कमी-बेशी कुछ न करनी चाहिए, या किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए चरित्रो मे कुछ परिवर्तन भी कर देना चाहिए ?

यही से उपन्यासकारो के दो गरोह हो गये है। एक आदर्शवादी तथा दूसरा यथार्थवादी।

यथार्थवादी चरित्रो को पाठक के सामने उनके यथार्थ नग्न रूप मे रख देता है। उसे इससे कुछ मतलब नही कि सच्चरित्रता का परिणाम

बुरा होता है या कुचरित्रता का परिणाम अच्छा—उसके चरित्र अपनी कमजोरियाँ या खूबियाँ दिखाते, अपनी जीवन-लीला समाप्त करते है। ससार मे सदैव नेकी का फल नेकी और बदी का फल बद नही होता, बल्कि इसके विपरीत हुआ करताहै, नेक आदमी धक्के खाते है, यातनाएँ सहते है, मुसीबते झेलते है, अपमानित होते है—उनको नेकी का फल उलटा मिलता है, बुरे आदमी चैन करते है, नामवर होते है, यशस्वी बनते है—उनको बदी का फल उलटा मिलता है। (प्रकृति का नियम विचित्र है!) यथार्थवाद अनुभव की बेडियो मे जकडा होता है और चूंकि ससार मे बुरे चरित्रो की ही प्रधानता है—यहाँ तक कि उज्वल से उज्वल चरित्र मे भी कुछ न कुछ दाग-धब्बा रहते है, इसलिए, यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओ, हमारी विषमताओ और हमारी क्रूरताओ का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशा-वादी बना देता है, मानवचरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारो तरफ बुराई ही बुराई नजर आने लगती है।

इसमे सन्देह नही कि समाज की कुप्रथा की ओर उसका ध्यान दिलाने के लिए यथार्थवाद अत्यत उपयुक्त है, क्योकि इसके बिना, बहुत सभव है, हम उस बुराई को दिखाने मे अत्युक्ति से काम ले और चित्र को उससे कही काला दिखाये जितना वह वास्तव मे है। लेकिन, जब वह दुर्बलताओ का चित्रण करने मे शिष्टता की सीमाओ से आगे बढ जाता है तो आपत्तिजनक हो जाता है। फिर, मानव स्वभाव की एक विशेषता यह भी है कि वह जिस छल और क्षुद्रता और कपट से घिरा हुआ है, उसी की पुन-रावृत्ति उसके चित्त को प्रसन्न नही कर सकती। वह थोडी देर के लिए, ऐसे ससार मे उडकर पहुँच जाना चाहता है जहाँ उसके चित्त को ऐसे कुत्सित भावो से नजात मिल सके—वह भूल जाय कि मै चिन्ताओ के बन्धन मे पडा हुआ हूँ, जहाँ उसे सज्जन, सहृदय, उदार प्राणियो के दर्शन

हो, जहाँ छल और कपट, विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो। उसके दिल मे खयाल होता है कि जब हमे किस्से कहानियो मे उन्ही लोगो से मावका है जिनके साथ आठो पहर व्यवहार करना पडता है, तो फिर ऐसी पुस्तक पढे ही क्यो ?

अँधेरी गर्म कोठरी मे काम करते-करते जब हम थक जाते है तो इच्छा होती है कि किसी बाग मे निकलकर निर्मल स्वच्छ वायु का आनन्द उठाये। इसी कमी को आदर्शवाद पूरा करता है। वह हमे ऐसे चरित्रो से परिचित कराता है जिनके हृदय पवित्र होते है, जो स्वार्थ और वासना मे रहित होते है, जो साधु प्रकृति के होते है। यद्यपि ऐसे चरित्र व्यवहार-कुशल नही होते, उनकी सरलता उन्हे सासारिक विषयो मे धोखा देती है, लेकिन काइयें-पन से ऊबे हुए प्राणियो को ऐसे सरल, ऐसे व्यावहारिक ज्ञान-विहीन चरित्रो के दर्शन से एक विशेष आनन्द होता है।

यथार्थवाद यदि हमारी आँखे खोल देता है तो आदर्शवाद हमे उठाकर किसी मनोरम स्थान मे पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद मे यह गुण है, वहाँ इस बात की भी शका है कि हम ऐसे चरित्रो को न चित्रित कर बैठे जो सिद्धात की मूर्तिमात्र हो—जिनमे जीवन न हो। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नही है, लेकिन उस देवता मे प्राणप्रतिष्ठा करना मुश्किल है।

इसलिए वही उपन्यास उच्च कोटि के समझे जाते है जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कह सकते है। आदर्श को सजीव बनाने ही के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे, उपन्यास की यही विशेषता है। उपन्यासकार की सबसे बडी विभूति ऐसे चरित्रो की सृष्टि है जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित कर ले। जिस उपन्यास के चरित्र मे यह गुण नही है वह दो कौडी का है।

चरित्र को उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिए यह जरूरी नही कि वह निर्दोष हो—महान् से महान् पुरुषो मे भी कुछ न कुछ कमजोरियाँ होती है—चरित्र को सजीव बनाने के लिए उसकी कमजोरियो का दिग्दर्शन कराने से कोई हानि नही होती। बल्कि, यही कमजोरियाँ उस चरित्र को मनुष्य बना देती है। निर्दोप चरित्र तो देवता हो जायगा और हम उसे समझ ही न सकेगे। ऐसे चरित्र का हमारे ऊपर कोई प्रभाव नही पड सकता। हमारे प्राचीन साहित्य पर आदर्शों की छाप लगी हुई है। वह केवल मनोरजन के लिए न था। उसका मुख्य उद्देश्य मनोरजन के साथ आत्मपरिष्कार भी था। साहित्यकार का काम केवल पाठको का मन बहलाना नही है। यह तो भाटो और मदारियो, विदूषको और मसखरो का काम है। साहित्यकार का पद इससे कही ऊँचा है। वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममे सद्भावो का सचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है। कम से कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिए। इस मनोरथ को सिद्ध करने के लिए जरूरत है कि उसके चरित्र Positive हो, जो प्रलोभनो के आगे सिर न झुकाएँ, बल्कि, उनको परास्त करे, जो वासनाओ के पजे मे न फँसे, बल्कि, उनका दमन करे, जो किसी विजयी सेनापति की भाँति शत्रुओ का सहार करके विजयनाद करते हुए निकले। ऐसे ही चरित्रो का हमारे ऊपर सबसे अधिक प्रभाव पडता है।

साहित्य का सबसे ऊँचा आदर्श यह है कि उसकी रचना केवल कला की पूर्ति के लिए की जाय। 'कला के लिए कला' के सिद्धात पर किसी को आपत्ति नही हो सकती। वह साहित्य चिरायु हो सकता है जो मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियो पर अवलबित हो, ईर्ष्या और प्रेम, क्रोध और लोभ, भक्ति और विराग, दुःख और लज्जा—ये सभी हमारी मौलिक प्रवृत्तियाँ है, इन्ही की छटा दिखाना साहित्य का परम उद्देश्य है और बिना उद्देश्य के तो कोई रचना हो ही नही सकती।

जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिए की जाती है, तो वह अपने ऊँचे पद से गिर जाता है—इसमे कोई सन्देह नही। लेकिन आजकल परिस्थितियाँ इतनी तीव्र गति से बदल रही है, इतने नये नये विचार पैदा हो रहे है, कि कदाचित अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श को ध्यान मे रख ही नही सकता। यह बहुत मुश्किल है कि लेखक पर इन परिस्थितियो का असर न पडे—वह उनसे आन्दोलित न हो। यही कारण है कि आजकल भारतवर्ष के ही नही, यूरोप के बडे-बडे विद्वान् भी अपनी रचना द्वारा किसी न किसी 'वाद' का प्रचार कर रहे है। वे इसकी परवाह नही करते कि इससे हमारी रचना जीवित रहेगी या नही। अपने मत की पुष्टि करना ही उनका ध्येय है, इसके सिवाय उन्हे कोई इच्छा नही। मगर, यह क्योकर मान लिया जाय कि जो उपन्यास किसी विचार के प्रचार के लिए लिखा जाता है उसका महत्व क्षणिक होता है? विक्टर ह्यूगो का 'ला मिजरेबुल', टालस्टाय के अनेक ग्रन्थ, डिकेन्स की कितनी ही रचनाएँ, विचार-प्रधान होते हुए उच्च कोटि की साहित्यिक है और अब तक उनका आकर्षण कम नही हुआ। आज भी शॉ, वेल्स आदि बडे-बडे लेखको के ग्रन्थ प्रचार ही के उद्देश्य से लिखे जा रहे है।

हमारा खयाल है कि क्यो न कुशल साहित्यकार कोई विचार-प्रधान रचना भी इतनी सुन्दरता से करे जिसमे मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियो का सघर्ष निभता रहे? 'कला के लिए कला' का समय वह होता है जब देश सपन्न और सुखी हो। जब हम देखते है कि हम भॉति-भॉति के राजनीतिक और सामाजिक बन्धनो मे जकडे हुए है, जिधर निगाह उठती है, दुःख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखाई देते है, विपत्ति का करुण-क्रन्दन सुनाई देता है, तो कैसे सभव है कि किसी विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे? हाँ, उपन्यासकार को इसका प्रयत्न अवश्य करना चाहिए कि उसके विचार परोक्ष रूप से व्यक्त हो, उपन्यास की स्वाभाविकता मे उस विचार के

समावेश से कोई विघ्न न पडने पाए, अन्यथा उपन्यास नीरस हो जाएगा।

डिकेस इगलैण्ड का बहुत प्रसिद्ध उपन्यासकार हो चुका है। 'पिकविक पेपर्स' उसकी एक अमर हास्य-रस प्रधान रचना है। 'पिकविक' का नाम एक शिकरम गाडी के मुसाफिरो की जबान से डिकेन्स के कान मे आया। बस, नाम के अनुरूप ही चरित्र, आकार, वेष—सब की रचना हो गई। 'साइलस मारनर' भी अग्रेजी का एक प्रसिद्ध उपन्यास है। जार्ज इलियट ने, जो इसकी लेखिका है, लिखा है कि अपने बचपन मे उन्होने एक फेरी लगाने वाले जुलाहे को पीठ पर कपडे के थान लादे हुए हुए कई बार देखा था। वह तसवीर उसके हृदय-पट पर अकित हो गई थी और समय पर इस उपन्यास के रूप मे प्रकट हुई। 'स्कारलेट लैटर' भी हैथर्न की बहुत ही सुन्दर मर्मस्पर्शिनी रचना है। इस पुस्तक का बीजाकुर उन्हे एक पुराने मुकद्दमे की मिसिल से मिला। भारतवर्ष मे अभी उपन्यासकारो के जीवन-चरित्र लिखे नही गये, इसलिए भारतीय उपन्यास-साहित्य से कोई उदाहरण देना कठिन है। 'रगभूमि' का बीजाकुर हमे एक अधे भिखारी से मिला जो हमारे गाँव मे रहता था। एक जरा-सा इशारा, एक जरा-सा बीज, लेखक के मस्तिष्क मे पहुँचकर इतना विशाल वृक्ष बन जाता है कि लोग उस पर आश्चर्य करने लगते है। 'एम० ऐड्रूज हिम' रडयार्ड किपलिग की एक उत्कृष्ट काव्य रचना है। किपलिग साहब ने अपने एक नोट मे लिखा है कि एक दिन एक इजीनियर साहब ने रात को अपनी जीवन-कथा सुनाई थी। वही उस काव्य का आधार था। एक और प्रसिद्ध उपन्यासकार का कथन है कि उसे अपने उपन्यासो के चरित्र अपने पडोसियो मे मिले। वह घटो अपनी खिडकी के सामने बैठे लोगो को आते-जाते सूक्ष्म-दृष्टि से देखा करते और उनकी बातो को ध्यान से सुना करते थे। 'जेन आयर' भी उपन्यास के प्रेमियो ने अवश्य पढी होगी। दो लेखिकाओ मे

इस विषय पर वहस हो रही थी कि उपन्यास की नायिका रूपवती होनी चाहिए या नही। 'जेन आयर' की लेखिका ने कहा, "मै ऐसा उपन्याम लिखूँगी जिसकी नायिका रूपवती न होते हुए भी आकर्षक होगी।" इसका फल था 'जेन आयर'।

वहुधा लेखको को पुस्तको से अपनी रचनाओ के लिए अकुर मिल जाते है। हालकेन का नाम पाठको ने सुना है। आपकी एक उत्तम रचना का हिन्दी अनुवाद हाल ही मे 'अमरपुरी' के नाम से हुआ है। आप लिखते है कि मुझे वाइविल से प्लाट मिलते है। 'मेटरलिक' वेलजियम के जगद्विख्यात नाटककार है। उन्हे वेलजियम का शेक्सपियर कहते है। उनका 'मोनावोन' नामक ड्रामा ब्राउनिग की एक कविता से प्रेरित हुआ था और 'मैरी मैगडालेन' एक जर्मन ड्रामा मे। शेक्सपियर के नाटको का मूल स्थान खोज-खोज कर कितने ही विद्वानो ने 'डाक्टर' की उपाधि प्राप्त कर ली है। कितने वर्तमान औपन्यासिको और नाटककारो ने शेक्सपियर से सहायता ली है, इसकी खोज करके भी कितने ही लोग 'डाक्टर' वन सकते है। 'तिलस्म होशरुवा' फारसी का एक वृहत् पोथा है जिसके रचयिता अकवर के दरवार वाले फैजी कहलाते है, हालाँकि हमे यह मानने मे सदेह है। इस पोथे का उर्दू मे भी अनुवाद हो गया है। कम-से-कम २०,००० पृष्ठो की पुस्तक होगी। स्व० वावू देवकीनन्दन खत्री ने 'चन्द्रकान्ता', और 'चन्द्रकान्ता सतति' का वीजाकुर 'तिलस्म होशरुवा' से ही लिया होगा, ऐसा अनुमान होता है।

ससार-साहित्य मे कुछ ऐसी कथाएँ है जिन पर हजारो वरसो से लेखकगण आख्यायिकाएँ लिखते आये है और शायद हजारो वर्षो तक लिखते जायेगे। हमारी पौराणिक कथाओ पर न जाने कितने नाटक और कितनी कथाएँ रची गई है। यूरोप मे भी यूनान की पौराणिक गाथा कवि-कल्पना के लिए एक विशेष आधार है। 'दो भाइयो की कथा', जिसका पता पहले

मिश्र देश के तीन हजार वर्ष पुराने लेखो से मिला था फ्रांस से भारतवर्ष तक की एक दर्जन से अधिक प्रसिद्ध भाषाओ के साहित्य मे समाविष्ट हो गई है, यहाँ तक कि बाइबिल मे उस कथा की एक घटना ज्यो की त्यो मिलती है।

किन्तु, यह समझना भूल होगी कि लेखकगण आलस्य या कल्पना-शक्ति के अभाव के कारण प्राचीन कथाओ का उपयोग करते है। बात यह है कि नये कथानक मे वह रस, वह आकर्षण नही होता जो पुराने कथानको मे पाया जाता है। हाँ, उनका कलेवर नवीन होना चाहिए। 'शकुन्तला' पर यदि कोई उपन्यास लिखा जाय, तो कितना मर्मस्पर्शी होगा, यह बताने की जरूरत नही।

रचना-शक्ति थोडी-बहुत सभी प्राणियो मे रहती है। जो उसमे अभ्यस्त हो चुके है उन्हे तो फिर झिझक नही रहती—कलम उठाया और लिखने लगे, लेकिन, नये लेखको को पहले कुछ लिखते समय ऐसी झिझक होती है मानो वे दरिया मे कूदने जा रहे हो। बहुधा एक तुच्छ-सी घटना उनके मस्तिष्क पर प्रेरक का काम कर जाती है। किसी का नाम सुनकर, कोई स्वप्न देखकर, कोई चित्र देखकर, उनकी कल्पना जाग उठती है। किसी व्यक्ति पर किस प्रेरणा का सबसे अधिक प्रभाव पडता है, यह उस व्यक्ति पर निर्भर है। किसी की कल्पना दृश्य विषयो पर उभरती है, किसी की गन्ध से, किसी की श्रवण से—किस को नये, सुरम्य स्थान की सैर से इस विषय मे यथेष्ट सहायता मिलती है। नदी के तट पर अकेले भ्रमण करने से बहुधा नई-नई कल्पनाएँ जाग्रत होती है।

ईश्वरदत्त शक्ति मुख्य वस्तु है। जब तक यह शक्ति न होगी, उपदेश, शिक्षा, अभ्यास सभी निष्फल जायगा। मगर यह कैसे प्रकट हो कि किसमे यह शक्ति है, किसमे नही ? कभी इसका सबूत मिलने मे बरसो गुजर जाते है और बहुत परिश्रम नष्ट हो जाता है। अमेरिका के एक पत्र-सपादक ने

इसकी परीक्षा करने का नया ढग निकाला है। दल-के-दल युवको मे से कौन रत्न है और कौन पाषाण ? वह एक कागज के टुकडे पर किसी प्रसिद्ध व्यक्ति का नाम लिख देता है और उम्मेदवार को वह टुकडा देकर उस नाम के सबध मे ताबडतोड प्रश्न करना शुरू करता है—उसके बालो का रग क्या है ? उसके कपडे कैसे है ? कहाँ रहती है ? उसका बाप क्या काम करता है ? जीवन मे उसकी मुख्य अभिलाषा क्या है ? आदि। यदि युवक महोदय ने इन प्रश्नो के सतोषजनक उत्तर न दिये, तो उन्हे अयोग्य समझकर विदा कर देता है। जिसकी निरीक्षण-शक्ति इतनी शिथिल हो, वह उसके विचार मे उपन्यास-लेखक नही बन सकता। इस परीक्षा-विभाग मे नवीनता तो अवश्य है, पर भ्रामकता की मात्रा भी कम नही है।

लेखको के लिए एक नोटबुक का रखना बहुत आवश्यक है। यद्यपि इन पक्तियो के लेखक ने कभी नोटबुक नही रक्खी, पर इसकी जरूरत को वह स्वीकार करता है। कोई नई चीज, कोई अनोखी सूरत, कोई सुरम्य दृश्य देखकर नोटबुक मे दर्ज कर लेने से बडा काम निकलता है। यूरोप मे लेखको के पास उस वक्त तक नोटबुक अवश्य रहती है जब तक उनका मस्तिष्क इस योग्य नही बनता कि हर एक प्रकार की चीजो को वे अलग-अलग खानो मे सग्रहीत कर ले। बरसो के अभ्यास के बाद यह योग्यता प्राप्त हो जाती है, इसमे सदेह नही, लेकिन आरम्भ-काल मे तो नोटबुक का रखना परमावश्यक है। यदि लेखक चाहता है कि उसके दृश्य सजीव हो, उसके वर्णन स्वाभाविक हो, तो उसे अनिवार्यत इससे काम लेना पडेगा। देखिए, एक उपन्यासकार के नोटबुक का नमूना—

'अगस्त ११, १२ बजे दिन, एक नौका पर एक आदमी, श्यामवर्ण, सफेद बाल, आँखे तिरछी, पलके भारी, ओठ ऊपर को उठे हुए और मोटे, मूँछे ऐंठी हुई।'

'सितम्बर १, समुद्र का दृश्य, बादल श्याम और श्वेत, पानी मे सूर्य

का प्रतिविम्ब काला, हरा, चमकीला, लहरे फेनदार, उनका ऊपरी भाग उजला। लहरो का शोर, लहरो के छीटो से झाग उडती हुई।'

उन्ही महाशय से जब पूछा गया कि आपको कहानियो के प्लाट कहाँ मिलते है? तो आपने कहा, "चारो तरफ--अगर लेखक अपनी आँखे खुली रखे, तो उसे हवा मे से भी कहानियाँ मिल सकती है। रेलगाडी मे, नौकाओ पर, समाचार-पत्रो मे, मनुष्यो के वार्तालाप मे, और हजारो जगहो से सुन्दर कहानियाँ बनाई जा सकती है। कई सालो के अभ्यास के बाद देख-भाल स्वाभाविक हो जाती है, निगाह आप ही आप अपने मतलब की बात छाँट लेती है। दो साल हुए, मै एक मित्र के साथ सैर करने गया। बातो ही बातो मे यह चर्चा छिड गई कि यदि दो के सिवा ससार के और सब मनुष्य मार डाले जायँ तो क्या हो? इस अकुर से मने कई सुन्दर कहानियाँ सोच निकाली।"

इस विषय मे तो उपन्यास-कला के सभी विशारद सहमत है कि उपन्यासो के लिए पुस्तको से मसाला न लेकर जीवन ही से लेना चाहिए। वालटर वेसेट अपनी 'उपन्यास-कला' नामक पुस्तक मे लिखते है—

"उपन्यासकार को अपनी सामग्री, आले पर रक्खी हुई पुस्तको से नही, उन मनुष्यो के जीवन से लेनी चाहिए जो उसे नित्य ही चारो तरफ मिलते रहते है। मुझे पूरा विश्वास है कि अधिकाश लोग अपनी आँखो से काम नही लेते। कुछ लोगो को यह शका भी होती है कि मनुष्यो मे जितने अच्छे नमूने थे वे तो पूर्वकालीन लेखको ने लिख डाले, अब हमारे लिए क्या बाकी रहा? यह सत्य है, लेकिन अगर पहले किसी ने बूढे कजूस, उडाऊ, युवक, जुआरी, शराबी, रगीन युवती आदि का चित्रण किया है, तो क्या अब उसी वर्ग के दूसरे चरित्र नही मिल सकते? पुस्तको मे नये चरित्र न मिले, पर जीवन मे नवीनता का अभाव कभी नही रहा।"

हैनरी जेम्स ने इस विषय पर जो विचार प्रकट किए है, वह भी देखिए—

"अगर किसी लेखक की बुद्धि कल्पना-कुशल है तो वह सूक्ष्मतम भावो से जीवन को व्यक्त कर देती है, वह वायु के स्पन्दन को भी जीवन प्रदान कर सकती है। लेकिन, कल्पना के लिए कुछ आधार अवश्य चाहिए। जिस तरुणी लेखिका ने कभी सैनिक छावनियाँ नही देखी उससे यह कहने मे कुछ भी अनौचित्य नही कि आप सैनिक जीवन मे हाथ न डाले। मै एक अग्रेज उपन्यासकार को जानता हूँ जिसने अपनी एक कहानी मे फ्रास के प्रोटेस्टेट युवको के जीवन का अच्छा चित्र खीचा है। उस पर साहित्यिक ससार मे वडी चरचा रही। उससे लोगो ने पूछा, आपको इस समाज के निरीक्षण करने का ऐसा अवसर कहाँ मिला (फ्रास रोमन-कैथोलिक देश है और प्रोटेस्टेट वहाँ साधारणत नही दिखाई पडते।) मालूम हुआ कि उसने एक बार केवल एक बार, कई प्रोटस्टेट युवको को वैठे और बाते करते देखा था। वस, एक बार का देखना उसके लिए पारस हो गया। उसे वह आधार मिल गया जिस पर कल्पना अपना विशाल भवन निर्माण करती है। उसमे यह ईश्वरदत्त शक्ति मौजूद थी जो एक इच से एक योजन से एक खवर लाती है और शिल्पी के लिए वडे महत्व की वस्तु है।"

मिस्टर जी० के० चेस्टरटन जासूसी कहानियाँ लिखने मे वडे प्रवीण है। आपने ऐसी कहानियाँ लिखने का जो नियम बताया है वह बहुत शिक्षा-प्रद है। हम उसका आशय लिखते है—

"कहानी मे जो रहस्य हो उसे कई भागो मे वाँटना चाहिए। पहले छोटी-सी वात खुले, फिर उससे कुछ वडी और अन्त मे मुख्य रहस्य खुल जाय। लेकिन, हर एक भाग मे कुछ न कुछ रहस्योद्घाटन अवश्य होना चाहिए जिसमे पाठक की इच्छा सब कुछ जानने के लिए बलवती होती चली जाय। इस प्रकार की कहानियो मे इस बात का ध्यान रखना परमावश्यक है कि कहानी के अत मे रहस्य खोलने के लिए कोई नया चरित्र न लाया जाय। जासूसी कहानियो मे यही सबसे वडा दोष है। रहस्य के खुलने मे तभी

मजा है जब कि वही चरित्र अपराधी सिद्ध हो जिस पर कोई भूलकर भी सन्देह न कर सकता था।"

उपन्यास-कला मे यह बात भी बडे महत्व की है कि लेखक क्या लिखे और क्या छोड दे। पाठक भी कल्पनाशील होता है। इसलिए, वह ऐसी बाते पढना पसन्द नही करता जिनकी वह आसानी से कल्पना कर सकता है। वह यह नही चाहता कि लेखक सब कुछ कह डाले और पाठक की कल्पना के लिए कुछ भी बाकी न छोडे। वह कहानी का खाका मात्र चाहता है, रग वह अपनी अभिरुचि के अनुसार भर लेता है। कुशल लेखक वही है जो यह अनुमान कर ले कि कौन-सी बात पाठक स्वय सोच लेगा और कौन-सी बात उसे लिखकर स्पष्ट कर देनी चाहिए। कहानी या उपन्यास मे पाठक की कल्पना के लिए जितनी ही अधिक सामग्री हो उतनी ही वह कहानी रोचक होगी। यदि लेखक आवश्यकता से कम बतलाता है तो कहानी आशयहीन हो जाती है, ज्यादा बतलाता है तो कहानी मे मजा नही आता। किसी चरित्र की रूप-रेखा या किसी दृश्य को चित्रित करते समय हुलिया-नवीसी करने की जरूरत नही। दो-चार वाक्यो मे मुख्य-मुख्य बाते कह देनी चाहिए। किसी दृश्य को तुरन्त देखकर उसका वर्णन करने मे बहुत-सी अनावश्यक बातो के आ जाने की सभावना रहती है। कुछ दिनो के बाद अनावश्यक बाते आप ही आप मस्तिष्क से निकल जाती है, केवल मुख्य बाते स्मृति पर अकित रह जाती है। तब उस दृश्य के वर्णन करने मे अनावश्यक बाते न रहेगी। आवश्यक और अनावश्यक कथन का एक उदाहरण देकर हम अपना आशय और स्पष्ट करना चाहते है—

दो मित्र सध्या समय मिलते है। सुविधा के लिए हम उन्हे 'राम' और 'श्याम' कहेगे।

राम—गुड ईवनिंग, श्याम, कहो आनन्द तो है ?

श्याम—हलो, राम, तुम आज किधर भूल पडे ?

राम—कहो क्या रग-ढग है ? तुम तो भले ईद के चाँद हो गये।

श्याम—मै तो ईद का चाँद न था, हाँ, आप गूलर के फूल भले ही हो गए।

राम—चलते हो सगीतालय की तरफ ?

श्याम—हाँ, चलो।

लेखक यदि ऐसे बच्चो के लिए कहानी नही लिख रहा है, जिन्हे अभिवादन की मोटी-मोटी बाते बताना ही उसका ध्येय है, तो वह केवल इतना ही लिख देगा—

'अभिवादन के पश्चात् दोनो मित्रो ने सगीतालय की राह ली।'

साहित्य की वेदी

श्री माखनलाल चतुर्वेदी 'भारतीय आत्मा'

तुम्हारी वेदी ।

वेदी वह, जिस पर मै आदर से आँसुओ के फूल चढाने को लालायित रहता, जिसकी ओर से आनेवाली वीरता की झकारो को सुनकर पापियो मे पवित्रता उमड पडती, कमजोरो मे बिजली दौड जाती, साहित्य की ध्वनि-धारा मे अद्भुत राष्ट्रीय सगीत सुनाई पडने लगता, नीर-क्षीर बिलगाने वालो का दल जिसके आस-पास कुतूहल से चचल हो फुदकने लगता, साहित्य-सुधा के मधुर सरोवरो के सरसिज मृग-मद की मस्ती पर झडने वाले परिमल को छोड-छोड उसे सुगन्धित करने लगता,—ऐसी, ऐसी वह तुम्हारी वेदी ! लो, एक बार मै उसकी ओर झुक लूँ ! मेरे जीवन का वह सर्वस्व, मेरी आशाओ की वह पिटारी, मेरी जाग्रति-नटी की वह नाट्य-परी, मेरी मातृ-भूमि की गोद की वह शोभा और मेरे पिछडे भूभाग की वह परम पावनी कर्तव्य-पीठिका, देखूँ कैसी हो रही है !

। . .

मै उसे मूल्यवान समझता हूँ, किन्तु उसका मूल्य चाँदी-सोने के टुकडे नही है । वह मूल्यवान होकर भी खरीदने, बेचने और उपहार मे देने की वस्तु नही है । उसे पानेवाले के शरीर पर, 'फटे पुरानेपन' का राज्य, पथ मे विरोध, गरीबी, घृणा, कानून और लक्ष्मी के गुलामो की कृपा के तीखे काँटे, पदो मे पुण्य की ओर न बढने देनेवाले बन्धन, शिर पर मिट जाने की कल्पना, कण्ठ मे तौक और तिस पर भी माता की पूजा के भावो से मस्त मीठा स्वर, आँखो मे श्रम की क्षीणता और तुम्हारे चरणो के धोने के लिए

आँसुओ की धारा, गालो पर ईसा के आज्ञा-पालन की तैयारी, मुँह मे मौन भाषा की मनोहर स्तोत्रमाला, हृदय मे देश की दशो दिशाओ मे गूँज मचाने वाली वीणा तथा दुर्वल को सवलता का स्वरूप वना डालनेवाली पुस्तक लिए हुए तुम, और हाथो मे अपनी श्यामता से श्याम के मन को भी मोह लेने वाली लेखनी—वह लेखनी, जिसके चल पडने पर मरे हुओ मे जीवन-ज्योति जगमगाने लगे, विछुडे हुए मिलने को टूट पडे, सोते हुए जाग्रति का सदेश पहुँचाने लगे और पिछडे हुए अग्रगामियो को पथ के पीछे छोड वैठने की ठानते दीखे—ऐसे अक्षरो के उपासक, शव्दो के साधु, पदो के पूजक, व्यजनो के विजयानन्द विहारी, सन्धियो के निर्माता, और 'पूतना मारण लब्धकीर्ति' के अग मे नित नव आभूपणो को समर्पित करने वाले, किन्तु प्राणो को मतवाले हो कलम के घाट उतारनेवाले ही को अधिकार है कि वह आगे वढे और तुम्हारी अमृत-सन्तानो की आज्ञा को शिर पर धरकर तुम्हारा पवित्र सदेश सुनाने, तुम्हारा दिव्य दर्शन कराने और तुम्हारे लिए की हुई आजन्म तपस्या का प्रत्यक्ष परिचय देने के लिए आगे वढे, और आशीर्वाद के जलकणो से सचित उस वेदी रूपी गोदी मे पके हुए, परिमल-पूरित, प्रफुल्लित पकज के समान शोभित हो वह महाभाग, और उस तुम्हारे भावो के मतवाले के मस्त सौरभ से महक उठे माता, वह तुम्हारी वेदी ।

*　　　　*　　　　*

पुकार हुई और तुम्हारे आराधको ने तुम्हारे एक सेवक को ढूँढा । उसने गिरि गह्वरो मे प्रवेश कर तुम्हारी अमृत सन्तानो का मित्र वनकर तुम्हारा कीर्तिगान किया था, उसने हिसको से पूरित वीहड वन मे तुम्हारे वाहन के नाम की गगन-भेदिनी गर्जना सुनाने मे साथ दिया था, उसने तुम्हे पहनाने के लिए माला गूँथने मे अपने आपको आगे वढाया था, और उसने हिसको के हृदयो को न हिला कर, हिमालय के पुत्र की एक कन्दरा में अपना

जीवन बिता समर्थ के सदेशो को दुहराया था, और उसने कर्मयोग के सन्देश-वाहक का सच्चा सेवक बनकर दिखाया था। हम दौड पडे, और तुम्हारी वेदी, उसकी महत्ता और पूज्यता की रक्षा के लिए उसके चरणो मे बैठकर बडी आव-भगत से आराधना की। उस ससार को परिवार मानने वाले, उस "यो यथा माम् प्रपद्यन्ते" के व्रती, उस वचनो के निर्भीक, दर्शन के भिखारी और कर्मो के तपस्वी की छाया मे बैठकर हमने स्तोत्रो का पाठ किया, षड्यन्त्रो के सिवा, शेप यन्त्रो की रचना दिखलाई, मारण और उच्चाटन के सिवा शेष मन्त्रो का प्रयोग किया और उस स्वतन्त्र दीखने वाले के तन्त्र मे आ जाने के लिए प्रत्यक्ष आत्मसमर्पण का वचन दिया। किन्तु उसने, उस स्वतन्त्रता को चरम सीमा की सेविका बनाकर हतभागिनी बनानेवाले देव ने हमारी हजारो आकाक्षाओ और तुम्हारी आज्ञा और आदेश के अनेक अनुसधानो को अपने पदो से रौद डाला। गौरव उसकी दृष्टि मे रौरव था। उसने वही सिद्ध किया। उसने गौरव के सारे कलरव को कोलाहल कहकर ठुकरा दिया। और वेदी पर चरण रखकर चढने के बजाय, उस पर अपना मस्तक रखने की इच्छा प्रकट की।

तब से मस्तक उठाने, मस्तक रखने और मस्तक और हृदय की बलि चढाने वाले लोग अपने आत्मदान से तुम्हारी उस वेदी को हरा-हरा किये हुए है।

और वेदी के ये उपासक, अमर है, अविजित हैं, सदैव आराधनामय है, इन्ही को पाकर निहाल है, तुम्हारी वेदी।

विश्व-भाषा

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

भापा के सवध मे कितने ही लोगो की यह धारणा है कि वह ईश्वर-प्रदत्त वस्तु है। इसमे मदेह नही कि भापा स्वय ईश्वर-निर्मित न होने पर भी उसी मानवीय शक्ति का फल है जो ईश्वर-प्रदत्त है। भापा भावो की अभिव्यक्ति का साधन मात्र है। यदि मनुष्य पृथ्वी पर अकेला ही जन्म ग्रहण करे तो अपने भावो की अभिव्यक्ति के लिए उसे भाषा की आवश्यकता नही है। भाषा के लिए यह आवश्यक है कि भिन्न-भिन्न मनुष्यो का सम्मिलन हो। जिस शक्ति की प्रेरणा से मनुष्य-समाज की सृष्टि होती है, उसी शक्ति की प्रेरणा का फल भापा है। अतएव मनुष्य-समाज से उसका घनिष्ठ सवध है। समाज मे जैसा परिवर्तन होता है, वैसा ही भापा मे भी। इस परिवर्तन के कुछ कारण प्राकृतिक है और कुछ मानसिक। देश और काल के कारण मनुष्य-समाज का एक स्थिर रूप हो जाता है। उसकी शारीरिक और मानसिक शक्तियो का विकास एक निर्दिष्ट क्षेत्र में होने लगता है। अतएव भापा भी देश और राज्य का अनुसरण करती है। कहा जाता है कि, आर्य जाति की भिन्न-भिन्न शाखाए एशिया और युरोप मे फैली हुई है। उनकी भाषाओ मे जो भिन्नता है, उसका प्रधान कारण देश और काल है। मानसिक कारणो मे मुख्य है धार्मिक भावनाएँ। सामाजिक और जातीय भावनाओ के भी मूल कारण धार्मिक भावनाएँ ही है। इन्ही के कारण समाज मे दृढता आती है। हिन्दू और मुसलमान मे जो भाषा का व्यवधान है, उसका एक प्रबल कारण धर्म-भेद है। ज्यो-ज्यो मनुष्यो की विभिन्नता कम होती जाती है त्यो-त्यो भापाओ का सम्मिलन भी होता

जाता है। जब मनुष्य प्रान्तीयता को छोडकर राष्ट्रीयता को ग्रहण कर लेता है, तब उसकी एक राष्ट्रीय भाषा हो जाती है। ब्राइस ने यह भविष्यवाणी की है कि कभी धर्मों की विभिन्नता इतनी कम हो जायगी कि ससार मे चार ही पाँच मुख्य-मुख्य धर्म रह जायेगे। उस समय भाषाओ की भी इतनी विभिन्नता न रहेगी।

आधुनिक युग मे राष्ट्रीयता का भाव प्रबल है। भारतवर्ष मे भाषाओ की विभिन्नता दूर करने के लिए राष्ट्रीय भाव काम कर रहे हैं। आजकल एक राष्ट्र-भाषा का प्रचार करने के लिए उद्योग किया जा रहा है। भाषाओ की विभिन्नताओ के कारण राजनीतिक क्षेत्र मे भी अशान्ति हो सकती है। इसका एक उदाहरण योरप है। यदि हम योरप से रूस को अलग कर दे, और भाषाओ के विचार से उसका देश-विभाग करे, तो यह चालीस भागो मे बँट जायगा। यदि हम उन भाषाओ के साथ दूसरी मुख्य-मुख्य बोलियाँ भी ले ले, तो हमारे देश-विभागो की सख्या और भी अधिक हो जायगी। मतलब यह कि भाषा की दृष्टि से समग्र पश्चिमी योरप चालीस देशो मे बँटा हुआ है। मि० ए० एल० म्यूरार्ड का यह मत है कि किसी देश की भाषात्मक सीमाएँ अत्यत खराब सीमाएँ है। झगडे और ईर्ष्या द्वेष के लिए वे उपयुक्त साधन है।

पश्चिमी योरप की जिन चालीस भाषाओ की ओर ऊपर सकेत किया है, वे वहाँ की जीवित भाषाएँ है। स्कूलो मे उनकी शिक्षा दी जाती है, उन्ही मे पुस्तको की रचना होती और समाचार पत्र छपते है। जहाँ उन्हे सरकार का आश्रय नही मिला है, वहाँ उनके कारण भाषा का विकट प्रश्न छिड गया है। मि० म्यूरार्ड का कहना है कि यदि हम किसी योरप की राजधानी को (रोम को छोडकर) केन्द्र मानकर २०० मील की त्रिज्या का एक वृत्त खीचे, तो हमारे वृत्त की रेखा कम से कम चार भिन्न भाषा-भाषी भू-भागो की सीमा का स्पर्श करेगी। इस प्रकार इस भाषा-भेद से वैज्ञानिको

और व्यापारियो को अपने क्षुद्र भाषा-क्षेत्र मे ही परिमित रहकर अपनी उन्नति के लिए असुविधाएँ उठानी पडती है ।

यदि हम उक्त क्षुद्र भाषा-क्षेत्र को जेल कह डाले, तो कुछ अत्युक्ति न होगी, क्योकि उसकी सीमा मे नासमझी, अविश्वास और घृणा का साम्राज्य है। यदि कोई अपने देश की सीमा को पारकर भिन्न भाषा-भाषी प्रदेश मे जा पहुँचे, तो अपनी भाषा भिन्न होने के कारण वह विदेशी या कभी-कभी शत्रु के रूप मे ग्रहण किया जायगा ।

आजकल योरप मे प्राय सभी जगह टेलीफोन का प्रचार है, परन्तु भाषा-विभेद के कारण लोग उससे वैसा लाभ नही उठा सकते। बर्लिन और रोम के बीच मे टेलीफोन लग जाने से क्या लाभ हुआ, जब कि तुम जर्मन या इटालियन भाषा नही बोल सकते ? विदेशी लोग भी अपने दूषित उच्चारण के कारण उससे विशेष लाभ नही उठा सकते । जब उसमे प्राय अपनी भाषा मे ही ठीक सख्या का बोध नही होता तब विदेशी स्वर मे तो उसका बोध होना और भी असाध्य है ।

पश्चिमी योरप के भिन्न-भाषा-भाषी भिन्न-भिन्न देशो मे प्राय यही बात देखने मे आती है कि वहाँ जिस जाति के लोग प्रभावशाली है, उनकी भाषा साधारण जन नही बोलते। जैसे पोलैण्ड मे पोल लोगो की जन-सख्या अधिक है, पर वे पराधीन रहे। इसके विपरीत पोलैण्ड के पूर्वी तथा पूर्व-दक्षिणी भाग मे पोलिश-भाषा का ही प्राधान्य रहा है, यद्यपि वहाँ दूसरी जाति के लोगो की अपेक्षा पोल लोगो की सख्या न्यून रही है। भाषा के सम्बन्ध मे प्रशिया वालो ने पोलैण्ड मे पोल लोगो पर अत्याचार किया। इधर पोल लोगो ने देश के पूर्वोक्त भागो मे वहाँ के लोगो से उसकी कसर निकाली।

ट्रांसिल्वेनियन और टेमेस्वर के 'बनात' प्रदेश के मामले तो और भी अधिक जटिल है। जब तुर्क निकाल बाहर किये गये और ट्रांसिल्वेनिया

हंगरी के साथ लगा, तब रूमानियन भाषा बोलनेवाले कृषकों की जनता, असंगठित और निरक्षर होने के कारण, मगयर लोगों के प्रभाव में पड़ गई। उन लोगों के साथ ही वहां सैक्सन जाति के लोगों की भी मजबूत बस्तियां कायम थीं, और 'बनात' में तो रूमानियन, सर्ब, जर्मन और मगयर लोगों की खिचड़ी है।

परन्तु भाषा के प्रश्न की जैसी जटिलता सालोनीकी नगर तथा उसके पड़ोस के मैसेडोनिया-प्रदेश में है, वैसी योरप में अन्यत्र नहीं है। वहां तुर्कों ने सदियों तक राज्य किया है। इस समय उन पर यूनानियों का अधिकार है, परन्तु इन दोनों जातियों के शासकों की भाषा अल्प-संख्यक लोग ही बोलते हैं। इस नगर के पड़ोस में रूमानियन और अल्बेनियन जातियां भी रहती हैं। उधर शहर में यहूदियों का जोर है। ये लोग स्पेन से निकाल दिये जाने पर यहां आकर आबाद हुए थे, और एक जमाने से यहीं रहते हैं। ये लोग स्पेन की ग्राम्य भाषा बोलते हैं। अपने अधिकांश सहधर्मियों की भांति ये इड्डिश भाषा नहीं बोलते। अतएव सालोनीकी एवं स्तंबोल में, भाषा-भिन्नता के कारण फ्रेंच-भाषा का ही प्राधान्य है। वहां के श्रेष्ठ स्कूलों में उसी का प्रचार है। इसके सिवा वहां के प्रसिद्ध पत्र भी उसी विदेशी भाषा में छपते हैं।

पिछले सौ वर्षों में यूरोप के अनेक राष्ट्रों का पुनरुज्जीवन हुआ, और अपनी प्रतिपत्ति के लिए उन्होंने युद्ध भी किए। प्रत्येक राष्ट्र का क्षुद्र समूह ज्ञान-लाभ करते ही अपनी प्रतिपत्ति कायम करने लगता है, और उस दशा में वह सहवासिनी जाति से अपना पार्थक्य सूचित करने लगता है। पिछले समय में जो राष्ट्र समुत्पन्न हुए हैं उनके रोग का नाम 'सीन-फीन' ही दिया जा सकता है।

निस्सन्देह ही राष्ट्रीयता का भाव मनुष्य के लिए एक बड़ी भारी शक्ति रहा है, परन्तु उसका मूल्य भी बहुत अधिक देना पड़ता है। बोहेमिया

के निवासी जेच-भाषा को अपनी शिक्षा का माध्यम बनाकर अवशिष्ट ससार से विलग हो गए है। इसी प्रकार स्पेन का कैटालोनिया-प्रदेश भी उच्चाभिलाषी रहा है। यह प्रदेश भी उत्थानाभिलाषी रहा है। इस प्रदेश की भाषा की परम्परा भी श्रेष्ठ है, परन्तु खेद के साथ कहना पडता है कि यहाँ के बलिष्ठ और उन्नतिशील निवासी जगत्-प्रसिद्ध अपनी भाषा मे सतुष्ट न रह सके।

भाषा के क्षेत्र मे राष्ट्र-भेद-प्रदर्शक भाव का अत्यत विचित्र उदाहरण नार्वे देश है। यह कितने दु ख की बात है कि जो स्कैडिनेवियन-भाषा स्वीडन, नार्वे, डेनमार्क, फिनलैण्ड और आइसलैण्ड, इन पाँच देशो मे बोली जाती थी, उसके दो पृथक् भेद हो जाये। क्या ही अच्छा होता यदि वहाँ भी वैसे ही स्कडिनेवियन भाषा के प्रचार का प्रयत्न किया जाता, जैसे अग्रेजी का प्रचार करके ग्रेटब्रिटेन मे प्रातीय भाषाओ की भिन्नता दूर की जा रही है। परन्तु नार्वे ने दूसरा ही मार्ग ग्रहण किया है। अभी तक वहाँ की राजभाषा डेन-भाषा थी, परन्तु किसी देश-भक्त को यह सूझ पडा कि डेन-भाषा पूर्व पराधीनता का चिन्ह है। अतएव उसके विरुद्ध एक नई राष्ट्रीय भाषा की रचना की गई। वह वहाँ की सार्वजनिक भाषा कहलाने पर भी एक कृत्रिम सम्मिश्रण के सिवा और कुछ भी नही है। कृषको की प्राचीन बोली के आधार पर उसकी रचना हुई है, परन्तु वह बोली भी नही कही जाती। इतने पर भी स्कूलो मे उसी कृत्रिम भाषा का प्रचार है और दिन प्रति दिन उसकी उन्नति होती जा रही है। किसी दिन वह भाषा सर्वसाधारण के भाव-प्रकाशन का माध्यम बन जायगी। इस प्रकार दो पडोसी देशो के बीच जहाँ पहले एक भाषा का प्रचार था, वहाँ पार्थक्य सूचक एक गढा बन जायगा। चाहे ये दोनो देश एक मे मिला दिये जायँ, पर उनके मेल से भी विद्या का क्षेत्र क्षुद्र ही रहेगा।

कहा जाता है कि भाषा सबधी इस भयकर प्रश्न का निराकरण

कोई सहकारी अतर-राष्ट्रीय भाषा के स्वीकार करने से हो सकता है।
मि० म्यूरार्ड का मत है कि प्रचलित प्राकृत-भाषाओ की, यहाँ तक बोलियो की भी, रक्षा करना सर्वथा उचित है। कारण, उससे सामाजिक तथा सौदर्यात्मक उद्देश्य की सिद्धि होती है, परन्तु पारस्परिक भाव-परिवर्तन के लिए एक अन्तरर्राष्ट्रीय साधन की आवश्यकता अनिवार्य है। भारत के लिए हम भी ऐसी ही एक भाषा चाहते है। प्रातीय भाषाओ की उन्नति अवश्य की जानी चाहिए, परन्तु ज्ञान के विनिमय के लिए एक राष्ट्रीय भाषा की आवश्यकता है। इससे राष्ट्रीयता का प्रचार होता है और सद्भाव की पुष्टि होती है।

किसी जाति का स्वतन्त्र अस्तित्व है या नही, यह उसकी राष्ट्रीय भाषा और साहित्य से सूचित होता है। जाति मे जातीयता की रक्षा इन्ही दोनोसे होती है। परन्तु अव भिन्न-भिन्न जातियो का पारस्परिक सवध वढ रहा है। इसका मुख्य कारण है व्यवसाय-सूत्र।

आज-कल सभी देश अपने व्यवसाय की उन्नति मे सचेष्ट ह। जो जाति जीवित रहना चाहती है उसे व्यवसाय के समरागण मे उतरना ही पडेगा। यदि वह इस युद्ध मे सफलता प्राप्त कर सकी तो उसकी उन्नति हो सकती है। परन्तु यदि वह व्यवसाय के क्षेत्र मे सव से पीछे पड गई, तो फिर उसकी खैर नही। दूसरो की भिक्षा से किसी जाति का जीवन कव तक टिकेगा? समता से ही बन्धुत्व स्थिर रह सकता है। इसी कारण जो उन्नतिशील देश है, वे सदैव यही चेष्टा करते है कि हम किसी देश से कम न रहे।

व्यवसाय की वृद्धि से देशो की राजनीतिक सीमा घट-वढ गई है। यदि जापान की प्रभुता जापान की सीमा मे ही परिमित रहती, तो उसकी गणना ससार की महाशक्तियो मे कभी न होती। आज जापान की शक्ति वहुत वढी-चढी है। इसका कारण उसकी राजनीतिक शक्ति नही, किन्तु व्यावसायिक शक्ति है। जो देश व्यवसाय के क्षेत्र मे प्रवल है, वही राज-

नीति के क्षेत्र मे अदम्य रहेगा। व्यवसाय वृद्धि का पहला फल है। व्यवसाय की उन्नति का दूसरा फल यह है कि सभी देशो मे एक पारस्परिक बन्धन स्थापित हो रहा है। कोई भी देश ऐसा नही है, जो पृथ्वी के अन्य देशो से सवध तोडकर सवसे पृथक् रह सके।

भिन्न-भिन्न देशो मे अव कुछ ऐसा सवध स्थापित हो गया है कि यदि किसी एक को धक्का लगे, तो दूसरे को भी उसका आघात अवश्य सहना पडता है। इसीलिए अव राजनीतिज्ञो की दृष्टि अपने देश मे ही सीमावद्ध नही रहती। वे सदैव दूसरे देशो की अवस्था पर ध्यान देते रहते है। यह काम उन्हे परोपकार के लिए नही, किन्तु अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए करना पडता है। व्यावसायिक उन्नति का तीसरा फल है विश्व-भाषा का निर्माण। सभी देशो के लोगो का सवध अव विदेशियो से इतना घनिष्ठ हो गया है कि उन्हे दूसरो की भाषा के जानने की जरूरत होती ही है। प्रचलित भाषाओ मे अग्रेजी और फ्रेंच का खूव प्रचार है, परन्तु केवल इन्ही दो भाषाओ से सव काम नही चल सकता। इसलिए कुछ समय से लोग एक विश्व-भाषा का प्रचार करना चाहते है। यहाँ हम उसी के विषय मे कुछ वाते कहना चाहते है।

आज-कल ससार मे तीन हजार से अधिक भाषाएँ प्रचलित है। भाषा की विभिन्नता का सबसे वडा कारण देश है। यदि आज तीन हजार भाषाएँ प्रचलित है, तो हमे समझना चाहिए कि मानव जाति तीन हजार खण्डो मे विभक्त हो गई है। भाषा की इस विभिन्नता के कारण मनुष्य के विचार सकुचित हो जाते है। भारतवर्ष मे अभी तक राष्ट्रीयता और एकता का भाव जो प्रवल नही हुआ, उसका कारण यही भाषा भेद है। जो जिस प्रात की भाषा से अनभिज्ञ होता है, वह वहाँ के निवासियो को अवहेलना की दृष्टि से अवश्य देखता है।

यदि हम किसी प्रान्त के निवासी से उसी की प्रातीय भाषा मे वातचीत

करे, तो उससे शीघ्र ही घनिष्ठता हो जाती है। इसी कारण अब देश के नेताओ को यह फिक्र पडी है कि भारतवर्ष मे एक राष्ट्रीय भाषा का प्रचार हो। अधिकाश नेताओ की सम्मति है कि भारतवर्ष के लिए सबसे उपयुक्त राष्ट्रीय भाषा हिन्दी है। यदि लोग अपने हठ और दुराग्रह को छोडकर हिन्दी-भाषा को अपना ले, तो भारतवर्ष मे राष्ट्रीयता का भाव सहज मे जग जायगा। इसके लिए यह आवश्यकता नही कि प्रातीय भाषाओ की उपेक्षा की जाय। लोग अपनी-अपनी भाषाओ को पढे, और अपने-अपने साहित्य की वृद्धि करे।

परन्तु यदि वे चाहते है कि उनका एक राष्ट्र हो जाय, तो उन्हे एक भाषा का अवलम्बन करना ही पडेगा। यही बात विश्व-भाषा के लिए भी कही जा सकती है। यह तो हम पहले ही कह आए है कि कोई भी देश अब ससार से अपना सबध नही तोड सकता। राजनीतिक और व्यावसायिक दोनो दृष्टियो से यह आवश्यक है कि वह पृथ्वी के अन्य देशो से अपनी घनिष्ठता रखखे। इसके लिए उसे अन्य देशो की भाषाओ का ज्ञान होना चाहिए। ससार की सब भाषाओ का ज्ञान होना असभव है। इसीलिए यदि किसी ऐसी भाषा का प्रचार किया जाय, जिसे सभी देश ग्रहण कर सके तो उससे मानव जाति का बडा उपकार होगा। आज कल विभिन्न जातियो मे जो पारस्परिक सघर्षण चल रहा है, ईर्ष्या, द्वेष के जो भाव प्रबल हो रहे है, वे कम हो जायँ। अब विचारणीय यह है कि विश्व के लिए कौन सी भाषा उपयुक्त हो सकती है ?

यदि एक ही स्थान मे भिन्न-भिन्न देशो के ऐसे मनुष्य रहने लगे जो परस्पर एक दूसरे की भाषा नही समझते सकते, तो क्या लोग सदा मूक बनकर ही बैठे रहेगे ? कुछ समय तक उनको अडचन अवश्य होगी, पर धीरे-धीरे वे लोग एक ऐसी भाषा ईजाद कर लेगे, जिससे सभी अपने मनोगत भावो को प्रकट कर सके। इसमे सदेह नही कि वह भाषा खिचडी

होगी, उसमे सभी भाषाओ के दो-दो, चार-चार शब्द रहेगे, पर प्रधानता उसी भाषा की होगी, जिसके बोलनेवाले सबसे अधिक अथवा सबसे अधिक प्रतापी होगे। ससार मे भिन्न-भिन्न जातियो का सघर्षण होता ही रहता है। इसके फलस्वरूप लोग परस्पर एक दूसरे की भाषा से शब्द लेते रहते है।

आप किसी भी देश की भाषा पर ध्यान दीजिये। उसमें खोज करने से विदेशी शब्दो की भरमार मिलेगी। लोग विदेशी शब्दो को इतनी शीघ्रता से अपना लेते है कि किसी का उधर ध्यान ही नही जाता। दूसरी बात यह है कि मनुष्य आप ही अपनी भाषा को देश और काल के अनुसार कर लेता है। यही भाषा की परिवर्तनशीलता है। यदि साहित्य और व्याकरण का बधन न रहे, तो शब्दो का रूपान्तर इतना शीघ्र होने लगे कि फिर कोई एक भाषा ही न रह जाय।

शब्दो के परिवर्तन मे उनका उच्चारण ही रूपातरित होता है। हिन्दी के 'रगरूट' और 'वल्लमटेर' इसी के उदाहरण है। अग्रेजी के समान उन्नत भाषाओ मे भी ऐसा परिवर्तन होता रहता है। भिन्न-भिन्न भाषाओं की इस परिवर्तनशीलता को देखकर इगलैण्ड के एक प्रसिद्ध विद्वान ने यह अनुमान किया है कि कभी ऐसा भी समय आवेगा जब ससार मे पाँच ही छ मुख्य-मुख्य भाषाएँ रह जाएगी, और अन्य भाषाएँ उन्ही मे विलीन हो जाएँगी।

आजकल भाषा-विज्ञान शास्त्र की खूब उन्नति हो रही है। भिन्न-भिन्न भाषाओ पर तुलनात्मक विचार किया जाता है। जब सर विलियम जोन्स के उद्योग से योरप मे सस्कृत का प्रचार हुआ, तब इस विज्ञान की सृष्टि हुई। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के जन्मदाता बॉप (Bopp) थे उनके बाद जेकबग्रिम साहब ने व्याकरण शास्त्र पर अपना तुलनात्मक ग्रन्थ प्रकाशित किया। तब से इस शास्त्र की बराबर उन्नति हो रही है।

भाषा-विज्ञान की उन्नति का एक फल यह हुआ कि कुछ लोगो को एक

कृत्रिम विश्वभाषा बनाने की सूझी। आज तक ऐसी तीन भाषाओ की सृष्टि हो चुकी है। बँगला के 'प्रवासी' पत्र मे इन भाषाओ के विषय मे एक लेख भी निकला था।

मानवीय सभ्यता के विस्तार के लिए यह आवश्यक है कि आजतक मनुष्यो ने ज्ञान-राशि की जो सपत्ति अर्जित की है, उसका सर्वत्र प्रचार कर दिया जाय। पर ज्ञान का मुख्य द्वार है भाषा। अतएव यदि एक ही भाषा मे विश्व का ज्ञान सुलभ कर दिया जाय, तो उससे मानव-जाति का बडा उपकार होगा। इसीलिए यदि ससार के सभी विद्वान् एक ही भाषा मे अपने मनोगत भाव प्रकट करने लगे, तो सर्वसाधारण के लिए भी ज्ञान का पथ सुगम हो जाय।

परन्तु जिन तीन भाषाओ का उल्लेख किया गया है, वे साहित्यिक दृष्टि से नही निर्मित हुई है, किन्तु व्यावसायिक दृष्टि से बनाई गई है। उनका उद्देश्य यह नही है कि उनसे विश्व-साहित्य का प्रचार किया जाय। लोगो को विदेशी भाषाओ का ज्ञान न होने से जो अडचन होती है, उसी को दूर कर देना इन विश्वभाषाओ का उद्देश्य है। इनसे ज्ञान का मार्ग उन्मुक्त न होगा, किन्तु व्यापारियो और यात्रियो को सुविधा होगी। इन भाषाओ से मनुष्य उन्नति के पथपर अग्रसर नही होगे।

इनसे उन्हे आराम जरूर मिलेगा। हम चाहते है कि एक ऐसी भाषा का प्रचार किया जाय कि इसमे पूर्व का अध्यात्मवाद और पश्चिम का भौतिकवाद, दोनो व्यक्त किए जा सके। पाश्चात्य मनो-विज्ञान-शास्त्र मे आध्यात्मिक शब्दो के अभाव से बडा झगडा होता है। यहाँ तक कि अर्थ का अनर्थ भी हो जाता है। विश्व भाषा का ऐसा रूप हो कि मनुष्य की सभी भावनाएँ सुबोध हो जाएँ। हम कह नही सकते कि कभी ऐसी विश्व-भाषा का प्रचार होगा या नही, परन्तु आजकल ससार के नेता लोग विभिन्न जातियो के मनोमालिन्य को दूर करने की चेष्टा कर रहे है। अत सभव

है कि कभी सभी देश एक भाव, एक धर्म और एक भापा ग्रहण करके एक विशाल राष्ट्र के अन्तर्गत हो जायँ। अस्तु।

आजकल विश्वभापा के रूप मे जिन तीन भाषाओ के प्रचार करने की चेष्टा की जा रही है, उनमें से पहिली भापा का नाम 'वोलापुक' (Volapuk) है। इस भाषा की उद्भावना सन् १८८० में हुई थी। वह भाषा युक्ति-शास्त्र पर अवलवित है। यह तो सभी जानते है कि प्रचलित भाषाओ मे शव्दो के अर्थों के जानने मे युक्ति काम नही देती।

कुछ शव्दो को छोडकर वाकी शव्दो मे अर्थ और ध्वनि का कोई सवध नही। 'वोलापुक' के उद्भावक थे जान एम० शिलर (Johann M Schleyer) आपने इस भाषाको युक्ति-युक्त और नियमित करना चाहा। इसके लिए आपने यह उपाय सोचा कि कुछ मूल शव्द निर्धारित कर दिये जायँ, और उन्ही शव्दो से, प्रत्यय और विभक्ति के योग और समास से, नाना प्रकार के शव्द वनाए जायँ। ये शव्द दीर्घ न हो, इसलिए मूल शव्दो को एकाक्षरिक करना चाहिए। इन्ही उपायो का अवलवन कर आपने 'वोलापुक' की रचना की।

'वोलापुक' के वाद 'एस्पराण्टो' नामक भापा की सृष्टि हुई। इस भापा के जन्मदाता थे डा० जामिन हाफ। सरस्वती मे आपका जीवन-चरित प्रकाशित हो चुका है। सन् १९०१ से एस्पराण्टो का प्रचार खूव वढने लगा। एस्पराण्टो की व्याकरण भाग मे मौलिकता है। इसमे एक ही नियम की सर्वत्र पावन्दी आ जाती है। अपवाद तो एक भी नही है। एक मूल शव्द मे अनेक शव्द वनाये जा सकते है।

विभक्तियो और प्रत्ययो की सख्या भी वहुत कम है। इसका शव्द-समूह किसी एक भापा से नही लिया गया है। जामिन हाफ साहव ने देखा कि भिन्न-भिन्न भाषाओ के अनेक शव्दो मे वडी समानता है। अतः

ऐसे शब्दो की उत्पत्ति एक ही मूल से होनी चाहिए। आपने यथासभव इन्ही मूल शब्दो के आधार पर अपनी भाषा की रचना की है।

'एस्पराण्टो' का सबसे बडा प्रतिद्वन्दी है Idion Neutral-and पेट्रोग्रेड मे Akademı International de Lıngu unıversal नामक एक समिति है। उसी के द्वारा इस भाषा की सृष्टि हुई है। इसी समिति के डाइरेक्टर रोजनवर्ग साहव इसके सृष्टिकर्ता है।

विश्वभाषा विद्वानो की कोरी कल्पना नही है। वह मनुष्य-समाज के लिए आवश्यक है। उसी पर उसका भविष्य निर्भर है। एक प्रसिद्ध विद्वान् ने इसकी जो विवेचना की है, उसे हम नीचे देते है।

'मनुष्य-जाति की दो मुख्य स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ है। एक आत्मोन्नति और दूसरी आत्म-रक्षा की। इन्ही दो प्रवृत्तियो के द्वन्द्व-युद्ध से मनुष्य-जाति का इतिहास वना है। जीवन की स्वच्छन्द गति से लिए यह आवश्यक है कि ये दोनो साम्यावस्था को प्राप्त हो। मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह ग्रहण करने की इच्छा करता है। ग्रहण करने के वाद वह उसकी रक्षा करने की चेष्टा करता रहता है।

इसी प्रवृत्ति के वशीभूत होकर वह जिसे ग्रहण करता है, उसे दृढता-पूर्वक पकड़ता और आत्मसात् कर लेता है। वह उसी मे आवद्ध हो जाता है। इसी के साथ एक दूसरी प्रवृत्ति है आत्मोन्नति की। यह प्राण का आवेग है, जो सदैव व्यवधानो को दूर करने की चेष्टा करता है। यह प्राण का आह्वान है, जो सदैव मनुष्य को अग्रसर होने के लिए प्रेरित करता है। मगर मनुष्य की सदैव उन्नति नही होती रहती। यदि एक युग मे वह आगे वढता है, तो उसके वाद जो युग आता है, उसमे उसे पीछे हटना पडता है, परन्तु वह रुकता इसलिए है कि वह पुन आगे वढे।'

आजकल हम ऐसे युग मे है जव मानव-जाति काल के प्रत्याघात से

रुककर पुन अग्रसर होने की चेष्टा कर रही है। इस समय सर्वत्र राष्ट्रीयता की सकुचित दीवारो के बीच मे पडकर मनुष्य की गति अवरुद्ध हो रही है। इस सकीर्णता मे पडकर उसका दम घुट रहा है।

साहित्य-माधुरी

वियोगी हरि

'न ब्रह्म विद्या न च राजलक्ष्मीस्तथा, यथैव कविता कवीनाम्'

यो तो सर्वत्र ही विधि-विधान से माधुरी मुकुलित मिलती है, किन्तु जो माधुरी साहित्य-सौन्दर्य मे है, जो माधुरी रस-रत्नाकर मे है, जो माधुरी मार्मिकजनो की मानस-मजरी मे है, वह कैशोर्य लावण्य मे, लक्ष्मी-लहरी मे तथा योगियो की समाधि-साधना मे कहाँ ? जो माधुरी कवि-कल्पना एव कविता-कादम्बिनी मे पायी जाती है, वह माधुरी मल्लिका के मकरन्द मे कहाँ ? मेरी सम्मति मे जो माधुरी कवित्त-रस मे है वह 'तन्त्रीनाद' 'सरस राग', अथवा 'रति-रग' मे नही। साहित्य-माधुरी-मर्माहत रसिक-जन ही—'धीर समीरे यमुना-तीरे वसति वने बनमाली' एव 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्य' के बीच का रस-रहस्य समझ सकते है। जो साहित्य-माधुरी मे मतवाला है उसे कोई भी मतवाला अपने मत मे नही मिला सकता। उस खुदमस्त का मजहब वेद, अवस्ता, बाइबिल या कुरान से परे है। वह तो समस्त धर्मो की साधना वाणी के मन्दिर मे ही कर लेता है।

व्याकरण मे दाँत खटाखट करने वाले या दर्शनो के पचडे मे पचने वाले भी जब इस माधुरी का आकठ पान करते है, तब वे भी अपनी विभोर रसना को इस प्रकार उपदेश करने लगते है —

"जीभ निबौरी क्यो लगै, बौरी चाख अँगूर"

सचमुच ही इस माधुरी में एक अलौकिक द्राक्षारस का स्वाद मिलता है, हृदय मे एक अनूठी गुदगुदी पैदा हो जाती है। सूर के पद, तुलसी की चौपा-

इयाँ, देव और घनानन्द के कवित्त एव बिहारी के दोहे क्या है ? इसी सुधा-रस से भरे कटोरे, साहित्य-माधुरी के छलकते प्याले है। जो इस रस में नख से शिख तक डूबे है, वे ससार-सागर पार कर चुके, और जो इसमे गोते लगाने से अलग रहे, समझ लो वे भव-पारावार मे ऐसे डूबे कि कुछ ठिकाना नही।

अनबूडे बूडे, तिरे जे बूडे सब अग।

इसमे डूबने वाले प्रकृति और काल से सदा निर्लेप रहते है। उनका ससार कुछ निराला ही होता है। वे ग्रीष्म मे वर्षा की, वर्षा मे ग्रीष्म की, हेमन्त मे वसत की तथा शिशिर मे शरद की छटा देखते है। उनके लिए दु ख दु ख नही, सुख सुख नही। जिस अवस्था को ज्ञानी और योगी कठिन से कठिन विचार और साधन के द्वारा प्राप्त कर पाते है, उसे वे अनायास ही प्रत्यक्ष कर लेते है। इतना ही नही मेरी तो यह धारणा है कि योगियो को आत्मानुभूति से, विज्ञानियो को आविष्कार से, रण-धीर को युद्ध-विजय से और आजन्म रक को साम्राज्य-प्राप्ति से जितना आनन्द मिलता है, उससे शत सहस्र गुणाधिक आह्लाद साहित्य-रस के पान करने वाले को उपलब्ध होता है।

इसी माधुरी के कारण कदाचित् इस असार ससार को सहृदय जनो ने 'जगत सचाई सार' कहकर पुकारा है, अन्यथा मायावादियो का ही सिद्धात सत्य है। इस स्थल पर बडे ही विरोध की बात स्मरण आगई है। सुना है, एक विष-वृक्ष के दो फल फले है। और उन फलो मे भरी है सुधा। वह विष-वृक्ष ससार है। और उसके अमृत फल है 'काव्यानुशीलन' तथा 'सत्सग'।

"ससार विषवृक्षस्य द्वे फले अमृतोपमे।
काव्यामृतरसास्वाद', सगतिः सज्जनै' सह॥"

इसी आधार पर रसज्ञ जनो ने मिथ्या जगत को सत्य सिद्ध किया है।

ठीक भी है, इस संसार समुद्र मे यदि काव्यामृत रसास्वादन का आधार न मिलता तो हम निराधार कभी के डूब चुके होते।

ससार निस्सदेह परिवर्तनशील है, पर "साहित्य-माधुरी' मे न कभी परिवर्तन हुआ, न हो रहा है और न होगा ही। आज तक कितने ही परिवर्तन हुए, कितने आन्दोलन हुए, कितनी हलचल हुई, पर पूछो तो इस रस-माधुरी पर भी कोई आघात पहुँचा, इसका भी कभी कोई रूपान्तर हुआ ? ज्ञानियो और दार्शनिको मे वाद-विवाद उठ खडे हुए, सप्रदायो मे दलादली हुई, राजनीतिज्ञो के जमाने ने पलटा खाया, विज्ञानियो ने विद्युत् और वाष्प मे नित्य नये आविष्कार किये, किन्तु यह माधुरी सदा अक्षुण्ण ही रही। एक रस ही रही। सब कुछ झूठा हो गया, पर यह अनुठी की अनूठी ही बनी रही। कितने रसिको ने इस प्याले से ओठ न लगाये होगे, पर यह आजतक जूठा न हुआ होगा।

क्यो ? इसलिये कि यह इस लोक की निधि नही है, भ्रामक जगत् की धरोहर नही है। किसी के मत मे साहित्य-माधुरी कोरी कल्पना है और किसी की राय में केवल मनोरजन या कभी-कभी चाटने के लिए चटपटी चटनी है। पर, वास्तव मे ऐसा कहनेवाले शब्द-रत्नो के जौहरी नही। ऐसा वे ही कहेगे जिन्हे नीरस काम-धन्धो के मारे इसे पान करने की छुट्टी नही, जिनकी आँखे क्षणिक ऐश्वर्य और भोग-विलास की चकाचौंध से चमक गई हैं, जिनके पास कसकीला या जख्मी दिल नही है। साहित्य-माधुरी रसज्ञो के लिए कोरी कल्पना नही है। वह तो उनकी दृष्टि और सृष्टि मे उतनी ही सच्ची है जितनी आस्तिक के लिए ईश्वर की अस्ति। वह केवल चटपटी चटनी नही, वरन् सदा के लिए तृप्त कर देने वाली सुधा है। सब कुछ है, इस माधुरी-रहस्य, इस रत्न का जौहर केवल कॉच के टुकडे परखने वाले क्या समझ सकते है।

मत्वा पदग्रथनमेव काव्य,
मदा स्वय तावति चेष्टमाना ।
मज्जन्ति वाला इव पाणिपाद-
अस्पन्दमात्र प्लवन विदन्त. ॥

—नीलकठ दीक्षित

अर्थात् कविता के रहस्य को न समझने वाले केवल तुकबन्दी से ही काव्य रचने का प्रयत्न करते हुए उन वालको की भांति डूबते है, जो हाथ-पैर फटकाने को ही तैरना समझकर पानी मे कूदने का साहस कर बैठते है।

मै इन विद्वच्चक्र-चूडामणियो को दूर से ही नमस्कार करता हूँ। ये भलेमानस न तो साहित्य-माधुरी को नष्ट ही कर सकते है, और न उस पर किसी भांति की कलककालिमा ही पोत सकते है। मै तो उन रसिक मधुव्रतो का एकात उपासक हूँ जो इस माधुरी मकरद के पीछे उन्मत्त हो घूम रहे है। जो इस शुष्क युग में भी सदा यही सुना करते है कि—

"अइहै बहुरि वसन्त ऋतु, इन डारिन वै फूल।"

—बिहारी

सच्चे आशावादी साहित्य रसिक ही है। न जाने क्यो सुकवि हाली ने यह निराशा-जनक शेर लिख मारा—

शायरी मर चुकी अब जिन्दा न होगी यारो।
याद कर कर के उसे जी न कुढ़ाना हर्गिज ॥

जनाव हाली की राय मे अब शायरी कभी जिन्दा ही न होगी, वह सदा के लिए मर चुकी। ठीक, पर साहब, आपको यह भी साफ-साफ खोल देना चाहिए था कि शायरी किनके लिए मर चुकी। जिन्हे शायरी मे सत्य और श्रेय की झलक नही मिलती, जिनके लिए साहित्य केवल कोरी कल्पना ही है,

उनके लिए तो वह पहले से ही मुर्दा थी, ज़िन्दा ही कब थी ? पर जो उस पर सौ जान से फिदा हो रहे है, योगी हो गली-गली अलख जगा रहे है, नशा सा पिये झूमते-फिरते है, उनके लिए भला शायरी कभी मर सकती है, साहित्य-माधुरी लुप्त हो सकती है ? कभी नही, हर्गिज़ नही ।

भले ही कोई नीरस बॉस को चूसे, पानी से घी वा धूल से तेल निकाले अथवा आकाश-वाटिका से सुमन-सचय करे—हमे कोई आपत्ति नही । हम गँवार लोग तो, अपनी सीधी-सादी वुद्धि को उच्च सिद्धातो मे न उलझा कर, साहित्य-माधुरी के आस्वादी ही वनाना चाहते है । भले ही हमे कोई 'ओल्ड फूल' या खूसट की उपाधि से विभूपित करे हम अपने सिद्धात से टस से मस होने के नही । किससे कहे और क्या कहे ?

हम लोगो को जितना आनन्द इस साहित्य-माधुरी मे मिलता है, उतना इस लोक मे तो क्या, उस लोक मे भी न मिलता होगा, यह अत्युक्ति नही, सिद्धात है । इस लोक का आनन्द इसी माधुरी द्वारा ही तो प्रत्यक्ष होता है । उस पार की छटा इसी माधुरी के चौका पर आरूढ होने ही पर तो दृष्टिगोचर होती है ।

हिन्दी-कविता

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी

(१)

जहाँ तक कविता का संबंध है, बहुत कम दिन पहले ही हमारे साहित्यिकों को नवयुग की हवा लगी है। जिस दिन कवि ने परिपाटी विहित रसज्ञता और रूढ़ि-समर्थित काव्य-कला को साथ ही चुनौती दी थी, उस दिन को साहित्यिक क्रांति का दिन समझना चाहिए। सब कुछ झाड़-फटकार कर कवि ने अपने आत्म-निर्मित आधार की कठोर भूमि पर अपने आपको आजमाया। पहिली बार उसने अपनी अनुभूति के ताने-बाने में एक संकीर्ण दुनियाँ तैयार की, संकीर्ण होने के साथ ही यह प्रसार-धर्मी थी।

इस भूमि पर, इस आत्म-निर्मित घेरे के अन्दर खड़े होकर हिन्दी के कवि ने अपनी आँखों से दुनिया को देखा, कुछ समझा। पहली बार उसने प्रश्नभरी मुद्रा से दुनियाँ के तथाकथित सामंजस्य की ओर देखा। उसे संदेह हुआ, असंतोष हुआ, संसार रहस्यमय दीखा, हिन्दी-कवि के विचार और हिन्दी-कविता की रूप-रेखा दूसरी हो गयी। केवल इसी दृष्टि से देखा जाय, तो हमारे आधुनिक कवियों का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है।

लेकिन नवयुग की बात कहते समय हमें कविता को अंत में ही ले आना चाहिए था। जो कोई भी नवयुग का आदि प्रवर्तक क्यों न हो, वह निश्चय ही गद्यलेखक था। सच पूछा जाय तो नवयुग का साहित्य गद्य का साहित्य है। भाषा ने ही परिवर्तन के अनेक रूप देखे हैं, शब्दकोष में आश्चर्यजनक

वृद्धि हुई है, गद्य की शैलियो मे जबर्दस्त परिवर्तन हुआ है और पद्य की भाषा एकदम बदल गई है ।

हिन्दी के उपन्यास और कहानियाँ एकदम नई चीज है। इस क्षेत्र मे हिन्दी साहित्य की वेगवती यात्रा, जो 'चन्द्रकान्ता' से शुरू होकर 'गोदान' तक पहुँच चुकी है, बडे मार्के की है । नाटको मे यद्यपि इतना बडा विकास नही हुआ है; पर वह नितात कम भी नही है। लिरिक ('गीत काव्य') मे अभूतपूर्व परिवर्तन और नया प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है, और जैसा कि कभी-कभी वृद्ध पडित झुँझला कर कहा करते है, छन्द, भाषा, रीति, नीति, और यहाँ तक कि उपमा, रूपक आदि मे भी आज की कविता प्रत्येक अग्रेजी ताल-सुर पर नाचने लगी है ।

आप चाहे इन वृद्ध पडितो की आलोचना को ले लीजिये, या भारतीय राष्ट्र की विशुद्धता के वकीलो के लेखो और व्याख्यान, या धार्मिक और दार्शनिक मतवादो की व्याख्याएँ, या मासिक और अन्य सामयिक साहित्य, सर्वत्र सुर बदल गया है, अग्रेजी ढग का अनुकरण हो रहा है, और हमारा साहित्य निश्चित रूप से प्राचीनो की निर्धारित नियमावलि से अधिक अलग हट गया है। यह तथ्य है, इसे अस्वीकार नही किया जा सकता।

लेकिन फिर भी साहित्य के उपरिलिखित वाह्य रूप मे जो परिवर्तन हुआ है, वह उसके अभ्यतर रूप को देखते हुए बहुत मामूली है। साहित्य का स्पिरिट ही बदल गया है। मनुष्य की वैयक्तिकता ने निश्चित रूप से साहित्य मे स्थान पाया है । नारी ने अपने समानाधिकार के दावे के साथ साहित्य मे प्रवेश किया है, और दृढ तथा उदात्त कठ से पिछली शताब्दी की कल्पित अवास्तविक नारी-मूर्ति के चित्रण का प्रतिवाद किया है, साहित्य अनजान मे इस कल्पना से दूर हट गया है ।

वह दिन अब जाता रहा है, जब प्रकृति सिर्फ उद्दीपन भाव के रूप मे, या केवल सजावट के रूप मे चित्रित की जाती थी, और यदि नही

गया है तो जाने की तैयारी में है। आज प्रकृति के साथ साहित्यिक का रिश्ता आलम्बन का रिश्ता है, उद्दीपन का नही। आधुनिक कविता में प्रकृति मे आध्यात्मिकता का आरोप देखा गया है। ईश्वर का स्थान आज मानवता ने ले लिया है, पूजन-भजन के स्थान पर पीड़ित मानवता की सहायता और हमदर्दी प्रतिष्ठित हो चुकी है।

प्राचीन धार्मिक विश्वासो की रूढ़ियो के टूट जाने के कारण आज के साहित्यिक ने ससार को नयी दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया है, और यूरोपियन साहित्य की रहस्य-भावना क्रमश उसे अपनी ओर खीचने लगी है। प्रत्येक क्षेत्र मे ऐतिहासिकता की प्रतिष्ठा उस बात का सबूत है कि भारतीय चिन्ता अपना पुराना रास्ता केवल छोड ही नही चुकी है, भूल भी गयी है।

ऊपर की कहानी एक जाति के बनने या बिगडने की कहानी है। एक बार आश्चय होता है उस भाषा की अपूव ग्राहिका-शक्ति पर, जो पचीस वर्षके मामूली अर्से मे इतना ग्रहण कर सकती है—नही, इतना परिवर्तन स्वीकार करके भी निर्विकार-सी बनी रह सकती है! और फिर आश्चर्य होता है उस जाति पर, जो इतनी जल्दी इतना भूल सकती है! आज का हिन्दी साहित्य हमारे लिए इतना निकट है कि हम उसको ठीक-ठीक नही देख सकते।

साख्य-कारिका मे बताया गया है कि अत्यत दूर ओर अत्यत नजदीक ये दोनो ही अवस्थाए प्रत्यक्ष की उपलब्धि मे बाधक है। फिर विविध परिवर्तनो के आलोडन-विलोडन से इनकी ऊपरी सतह कुछ ऐसी फेनिल हो गयी है कि नीचे की गहराई साफ नजर नही आती। पर हम चाहे जितने भी उन्नत या अवनत हो गये हो, चाहे जितना भी आगे या पीछे हट आये हो, जो बात सर्वाधिक स्पष्ट ह, वह है हमारी अनुकरण-क्षमता।

हमने अधाधुध अनुकरण किया है, अच्छा या बुरा जो कुछ मिला है,

उसे उदरस्थ करने की चेष्टा की है, सत्-असत् जो कुछ अपना था, सब छोडते और भूलते गये है। शायद हम ऐसा करने को बाध्य थे। शायद यही स्वाभाविक है; पर जिस त्रुटि को कोई भी बर्दाश्त नही कर सकता, वह यह है कि हमने अपनी एक सबसे बडी सपत्ति खो दी है, जिसने भारतीय साहित्य को, उसके सपूर्ण दोष-त्रुटियो के बाद भी ससार के साहित्य मे अद्वितीय बना रखा था। वह सपत्ति है—सयम, श्रद्धा और निष्ठा ।

इन अनन्य साधारण गुणो के अभाव मे कई जगह हमारी वैयक्तिकता साहित्य मे गलदश्रु-भावुकता से आरभ करके हिस्टीरिक प्रमाद तक का रूप धारण करती जा रही है, व्यक्तिगत प्रेम-चर्चा विज्ञापन-बाजी-सी मालूम होती है और मानवता के प्रति 'अर्पित श्रद्धाजलि' रटी हुई सूक्तियो का आकार ग्रहण कर गयी है। हमने ससार को नई दृष्टि से देखा जरूर है, पर साधना और सयम के अभाव से हमारी दृष्टि व्यापक नही हो सकी है। नकल की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढती जा रही है। इसके अपवाद भी है, और आशा का कारण इन अपवादो की बढती हुई सख्या ही है।

(२)

सही बात, जेसा कि रवीन्द्रनाथ ने कहा है, शायद यह है कि—यूरोप का साहित्य और यूरोप का दर्शन मानस-शरीर को सहला नही देता, केवल धक्का मार देता है। यूरोप की सभ्यता चाहे अमृत हो, मदिरा हो, या हलाहल हो, उसका धर्म ही है मन को उत्तेजित करना, उसे स्थिर न रहने देना। इसी अग्रेजी सभ्यता के सस्पर्श से हम समूचे देश के आदमी जिस किसी एक दिशा मे चलने के लिए तथा अन्य लोगो को चलाने के लिए छटपटा उठे है ।

सौ बात की एक बात यह है कि हम उन्नतिशील हो या अवनतिशील, लेकिन हम सब गतिशील जरूर है—कोई स्थितिशील नही। हिन्दी के

साहित्यिक भी गतिशील है, पर हजारो वर्ष की पुरानी सपत्ति के छोड देने के कारण हमारी गति सदा वाछित दिशा की ओर ही नही जा रही है। फिर भी इस बात को कोई अस्वीकार नही कर सकता कि हम एक जीवित जाति के सम्पर्श में आए है और जीवन के आघात से ही जीवन की स्फूर्ति होती है।

हजारो वर्ष से सुषुप्त देश के जगाने म भी कुछ समय लगेगा। आज की गतिशीलता वाछित दिशा मे हो या अवाछित दिशा मे, वह हमारे जागरण का निश्चित सबूत है। जो लोग इसे आशका और भय की दृष्टि से देखते है, वे गलती करते है। उन्हे याद रखना चाहिए कि 'पुराण मित्येव न साधु सर्वम्' और जो लोग उसे आत्यतिक उन्नति समझकर झूमने लगते है वे और भी गलती करते है, क्योकि उन्हे महसूस करना चाहिए कि सभी पुरानी चीजे सडा ही नही करती।

एक दूसरी महत्वपूर्ण सपत्ति भी है, जिसे हमने नवीनता के नशे में छोड दिया है। वह है हमारी सुदीर्घ-साधना-लब्ध दृष्टि। अपने काव्य के अभिध्येय अर्थो की सीमा पार करके जिस प्रकार हमारा कवि एक अन्य अर्थ को ध्वनित करता था, उसी प्रकार वह इस ठोस रूपावरण जागतिक व्यापारो के भीतर भी एक रूपातीत सत्य को देखा करता था।

हमारे कहने का यह मतलब नही है कि वह कविता मे फिलासफी झाडा करता था। यह काम तो हम लोग अब करने लगे है, बहुत हाल मे, हम केवल यही कहना चाहते है कि जिस प्रकार अर्थ में, उसी प्रकार परमार्थ में भी वह एक ठोस रूप से परे की वस्तु-रसको देखा करता था। इसीलिए हजार बन्धनो के भीतर रहकर भी वह मगल की सृष्टि कर सकता था।

अब इस युग मे, जिस प्रकार हमने अन्य विषयो मे, कला का अनुकरण किया है, उसी प्रकार काव्य के क्षेत्र मे भी हम अभिव्यक्ति को प्रधानता देने लगे है, व्यजना को हमने छोड और भुला दिया है। हम रूप की वास्त-

विकता की ओर प्रलुब्ध भाव से दौड पडे है, परन्तु अरूप की वास्तविकता हमसे दूर हट गई है। अनित्य का चित्रण हम सफलता के साथ करने लगे है, पर उसमे निहित शाश्वत का चित्रण हमारे साध्य के बाहर हो गया है।

प्रो० लेवी ने कहा था कि कला के क्षेत्र मे भारतीय प्रतिभा ने एक नूतन और श्रेष्ठ दान दिया था, जिसे प्रतीक रूप से 'रस' शब्द के द्वारा प्रकट कर सकते है, कि कवि अभिव्यक्त (Express) नही करता, व्यग या ध्वनित (Suggest) करता है। आज हमने अपने श्रेष्ठ दान को भुला दिया है, और इसी के फलस्वरूप काव्य और आख्यायिका के क्षेत्र मे कुरुचियो और जुगुप्सा-मूलक रचनाओ की अधिकता हो गयी है।

फिर भी हम कवि के साथ आश्वस्त हो सकते है, क्योकि—'दूर देश का मलय समीर देशातर के साहित्य-कुज मे पुष्पोत्सव का ऋतु लाने मे समर्थ हुआ है, इस बात का प्रमाण इतिहास मे है। जहाँ से हो, और जैसे भी हो जीवन के आघात से जीवन जाग उठता है, मानव चित्त के लिए यह चिरकाल के लिए एक वास्तविक सत्य है।'

(३)

हाल ही मे हिन्दी कविता गत पन्द्रह-वीस वर्षो की परम्परा से भी अलग होने लगी है। यह अलगाव मुख्यत वक्तव्य-विपय मे स्पष्ट हुआ है। असहयोग आन्दोलन के वाद से खडी वोली की कविता मे उन्नीसवी शताब्दी के अग्रेजी कवियो का प्रभाव उत्तरोत्तर बढता रहा है। इस श्रेणी के कवियो ने वाह्य जगत को अपने अन्तर के योग मे उपलब्ध किया था।

कवि जगत को अपनी रुचि, अपनी कल्पना और अपने सुख-दुखो में गुँथा हुआ देखता था और रचना-कौशल से उसका व्यक्त-जगत् पाठक का उपभोग्य हो उठता था। यूरोपीय महायुद्ध के वाद से इस विशेप दृष्टि मे बहुत परिवर्तन हो गया है। वैसे तो परिवर्तन के लक्षण वहुत पहले से ही

दृष्टिगोचर हो रहे थे पर महायुद्ध की कठोरता, क्रूरता और घिनौनेपन ने यूरोपीय कवि के अन्दर बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया का भाव ला दिया।

इधर की हिन्दी कविता में अप्रत्यक्ष रूप में उस युद्धोत्तर-कालीन प्रतिक्रिया का प्रभाव भी दिखायी पड़ा है। उधर जो परिवर्तन हिन्दी कविता में अत्यंत स्पष्ट रूप में दिखायी दिया है वह युद्धोत्तरकालीन काव्य के प्रभाव-वश या अनुकरण करने की चेष्टावश नहीं, बल्कि आधुनिक युग के विचारों के कारण हुआ है। पिछले पन्द्रह-बीस वर्षों की हिन्दी-कविता में, उसकी सैकड़ों वर्ष की परम्परा के विरुद्ध, वैयक्तिकता का अबाध प्रवेश हुआ है। चाहे कवि-कल्पना के द्वारा इस जगत् की विसदृशताओं से मुक्त एक मनोहर जगत् की सृष्टि कर रहा हो, या चिंता द्वारा किसी अज्ञात रहस्य के भीतर प्रवेश करने की चेष्टा कर रहा हो या अपनी अनुभूति के बल पर पाठक के वासनान्तर्विलीन मनोभावों को उत्तेजित कर रहा हो, सर्वत्र उसकी वैय-क्तिकता ही प्रधान हो उठती रही है। अत्यंत आधुनिक कवि उस भावु-कता को पसन्द नहीं करता।

वह वस्तु को आत्म निरपेक्ष भाव से देखने को ही सच्चा देखना मानता है। यह बात उसके निकट सत्य नहीं है कि वस्तु को उसने कैसे देखा, बल्कि यह कि वस्तु उसके बिना भी कैसी है। इस वैज्ञानिक चित्त-वृत्ति का प्रधान आनन्द कौतूहल में है, उत्सुकता में नहीं, आत्मीयता में नहीं। और जैसा कि इस विषय के पंडितों ने बताया है, विश्व को व्यक्तिगत आसक्त भाव से न देखकर अनासक्त और तद्गत भाव से देखना ही आधुनिक दृष्टिकोण है। हाल के बहुत से हिन्दी कवियों ने जगत को इस दृष्टि से देखने का प्रयास किया है। इसी दृष्टिकोण को उन्होंने रूप से भाव की ओर जाना कहा है। इसके विरुद्ध कल तक वे भाव से रूप की ओर आने का ही प्रयत्न करते थे।

कविवर सुमित्रानन्दन पन्त की कविताओं में इस निर्वैयक्तिक दृष्टि-कोण का सबसे अधिक प्रकाश हुआ है उनके द्वारा संपादित 'रूपाभ'

नामक मासिक पत्र मे इस प्रकार वाह्य जगत को तद्गत और अनासक्त भाव से देखने का प्रयत्न करने वाले कवियो की वहुत सी कविताएँ प्रकाशित हुई थी, किन्तु यह समझना ठीक नही कि इस प्रकार के कवियो मे कोई एक सामान्य प्रवृत्ति ही दिखायी पडी है ।

छोटी-मोटी ऐसी अनेक प्रवृत्तियाँ वीजरूप से दृष्टिगोचर हुई है, जो भविष्य मे निश्चित और विशेष आकार धारण कर सकती है । उनका मूल उद्गम भी सर्वत्र एक नही और आपातत एक जैसी दिखायी देने पर भी उनका भावी विकास भी एक रूप मे नही होगा । नीचे कुछ विशेष प्रवृत्तियो का उल्लेख किया जाता है ।

साहित्य मे समाजवादी सिद्धात के वहुत प्रचार से हो या प्रातीय स्वायत्त-शासन की प्रतिक्रिया से हो, राष्ट्रीय भाव के कवियो मे से अधिकाश ने भारत-माता के स्थान पर किसानो और मजदूरो का स्तवगान आरभ किया है। इन स्तवगायको के सिवा वहुत से ऐसे युवको ने भी, जो भविष्य मे चमक सकते है, गरीवो, मजदूरो और किसानो के सवध मे कविताएँ लिखी है ।

इन कविताओ की सख्या वर्गीकरण और विवेचना के लिए पर्याप्त नही है, फिर भी इनमे चार प्रकार की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट ही लक्षित हो रही है । वे चार प्रकार के कवि ये है—

(१) पहले वे लोग, जो स्वय गरीवो का जीवन विता चुके या विता रहे है अथवा गरीवो मे हिलमिल कर उनके सुख-दुखो का गाढ भाव से अनुभव कर चुके है । ऐसे कवियो मे गरीवो या शोषितो के प्रति हमदर्दी की अपेक्षा पूँजीपतियो और जमीदारो या शोषको के प्रति प्रतिशोध और विक्षोभ के भाव ही अधिक प्रकाशित हुए है । इस श्रेणी के कवि विहार मे अधिक दिखाई दे रहे है ।

(२) दूसरे वे जो वर्तमान सामाजिक वुराइयो को ग्रथ-गत ज्ञान

के द्वारा या आत्म-चिंतन के द्वारा समझने की कोशिश करके इस नतीजे पर पहुँचे है कि आर्थिक वितरण की विषमता ही समस्त दोषों का मूल-कारण है। इन्होंने बुद्धि-द्वारा विषय की उपलब्धि की है, इसलिए इनकी भाषा मे आक्रमक गुण नही है, पर यह मध्य श्रेणी के उन लोगो को अपने विचार के अनुकूल बना लेने की शक्ति रखते है, जिन्हे समाज के अत्यंत निचले और उपेक्षित स्तरो का प्रत्यक्ष अनुभव नही है।

(३) तीसरे वे है, जिन्होंने हवा मे उड़ते हुए विचारो को पकड़कर छन्द के फ्रेम मे बाँधा है और इनमे अधिकतर कवि-सम्मेलनो के वे अखाड़ेबाज कवि है, जो प्रत्येक महत्वपूर्ण विषय का कारण किसानो और मजदूरो को ही बताते है।

(४) चौथी श्रेणी के कवि गरीबो की ओर मानवता के विचार से आकृष्ट हुए है। वे उन्हे शोषित समझकर शोषितो के विरुद्ध पाठक को उत्तेजित करने के लिए नही, बल्कि उनके अनेक कष्टो का वर्णन कर मनुष्य की सत्प्रवृत्तियो को उत्तेजित करने के लिए कलम उठाते है। कभी कभी एक ही कवि मे इनमे की एकाधिक प्रवृत्तियाँ दृष्ट हुई है। अभी ये प्रवृत्तिया ऐसी कोमलावस्था मे है कि उनके प्रतिनिधि कवियो को ढूँढ निकालना कठिन है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्रथम दो मे से अन्यतर का प्रकाश कई कवियो मे अधिक स्पष्टता के साथ हुआ है।

कुछ छिटके-फुटके प्रयत्न उस जाति की कविता के लिए भी हुए है, जिन्हे प्रभाववादी सप्रदाय की कविता कहते है। इस श्रेणी के कवि वक्तव्य-विषय की प्रत्येक छोटी-मोटी विशेषताओ को या उनके सौकुमार्य आदि विशेष धर्मों को अनावश्यक विस्तार के साथ वर्णन करने के पक्षपाती नही है। वे लोग कहते है कि कला की मनोहारिता को तूल देना व्यक्तिगत मोह का लक्षण है। वक्तव्य वस्तु की रमणीयता नही, बल्कि उनकी यथार्थता वर्णनीय होती है। उसका 'कैरेक्टर' उसकी समग्रता मे से प्रकाशित होता

है, विशेषता मे नही। इस समग्रता को प्रस्फुटित करने की अभी चेष्टा भर ही हुई है, सफलता कम ही मिली है।

इन नवीनतम प्रवृत्तियो के साथ ही साथ पुरानी कल्पना-प्रधान और चिन्तन-मूलक प्रवृत्तियाँ भी विद्यमान है। श्री 'निराला' ने 'तुलसीदास' के द्वारा एक नवीन मार्ग पर चलने की सूचना दी है। अपेक्षाकृत तरुण कवियो मे अनुकरण की प्रवृत्ति खूब दिखायी पडी है। अधिकाश अनुकरण प्रसाद जी, पत जी, और महादेवी जी की कविताओ का हुआ है। कुछ अश तक विवशता-मूलक नैराश्य-भावनाओ और तज्जन्य क्षणिक आनन्द के यथालाभ-सतोषवाद के अनुकरण की भी चेष्टा हुई है। ऐसे तरुणो की यह ग्राहिकाशक्ति मौलिकता के अभाव की निशानी है। इसका नियोग अन्य क्षेत्रो मे होता, तो साहित्य के लिए मगल की बात होती।

(४)

दो कारणो से बहुत हाल मे कविता की भाषा और शैली मे भी परिवर्तन हुआ है। एक तो विषय को जब अनासक्त और तद्गत भाव से देखा जाता है तब स्वभावत ही भावुकता को स्थान नही मिल पाता। ऐसी अवस्था मे कवि वैज्ञानिक की भाँति गद्यमय भाषा लिखने लगता है। दूसरे विषय की नवीनता को सपूर्ण रूप से अनुभव करने के लिए जान-बूझकर ऐसी भाषा और शैली का व्यवहार करते है जो पाठक के मन को इस प्रकार झकझोर दे कि उस पर से प्राचीनता के सस्कार झड जाँय।

वे ऐसी उपमाओ, ऐसे रूपको और ऐसी वक्रोक्तियो का व्यवहार करते है, जो केवल नवीन ही नही, अद्भुत भी जँचे। इस श्रेणी का कवि अनायास ही, अपनी प्रिया के प्रेम की महत्ता दिखाते समय, कह सकता है—हे प्रिये, तुम सूर्य से भी बडी हो, समुद्र से भी, मेढक से भी, कुकुरमुत्ते से भी, यहाँ मेढक और कुकुरमुत्ता पाठक के चित्त को झकझोरने के लिए ही व्यव-

हृत होगे, यद्यपि उनका अन्तर्निहित तत्व यह हो सकता है कि समुद्र और सूर्य अपनी महत्ता मे जितने सत्य है, उतने ही सत्य मेंढक और कुकुरमुत्ते भी हैं। ठीक इसी प्रकार की उक्तियाँ हिन्दी मे अभी नही हुई हैं, पर उस जाति की बहुत हुई हैं।

कवि महानगरी की सडको पर घूमता हुआ उसकी अट्टालिकाओ मे बैठी हुई प्रतीक्षा-परायण-नवोढा या पार्कों में उद्विग्नभाव से टहलते हुए प्रेमी को नही देखता, बल्कि गदी नालियाँ और कुष्ट-जर्जर पीपवाही सद-कल्प शरीरो को देखता है।

सिद्धातत उसकी दृष्टि मे नवोढा या उद्विग्न प्रेमी अपने आप मे जितने सत्य हैं, उतने ही सत्य गदी नालियाँ और दुर्गंधित शरीर भी है। परन्तु दूसरे का उल्लेख वह झकझोर देने के लिए और अपने नवीन विचारो को पूरे जोर से हृदयगम्य कराने के उद्देश्य से ही करता है। इन दो बातो के सिवा जिन निर्वैयक्तिक कवियो का लक्ष्य अपनी कविता को अपढ जनता तक पहुँचाना है, उनकी भाषा मे भी सरलता की प्रवृत्ति दिखाई दी है। पुराने रास्ते पर चलने वाले कवियो की भाषा में और कोई खास परिवर्तन तो नही हुआ पर लाक्षणिक वक्रता का ह्रास होता हुआ जान पडता है।

आधुनिक हिन्दी-कविता की भाषा पर विचार करते समय जो बात सबसे अधिक उल्लेख-योग्य है, वह यह है कि अत्यधिक प्रचारित और विज्ञापित होने पर भी वह अधिकाश मे हिन्दी जानने वाले पाठको के बहुत नजदीक नही आ सकी है। इसका कारण यह जान पडता है कि कवियो की प्रेरणा अधिकाश मे विदेशी माध्यम के द्वारा आती है और जो शास्त्र आधुनिक युग के मनुष्य को प्रभावित कर रहे है, उनकी बहुत कम चर्चा हिन्दी भाषा मे हुई है।

इस युग के मनुष्य की विचारधारा मुख्यत दो यूरोपियन आचार्यो से बहुत दूर तक प्रभावित है। ये है, मार्क्स और फ्रायड। एक ने बहिर्जगत

के क्षेत्र में और दूसरे ने अन्तर्जगत के क्षेत्र में क्रान्ति ला दी है। इनके विचारो और ग्रन्थो का हिन्दी मे वहुत कम प्रचार हुआ है, परन्तु इनके द्वारा प्रभावित साहित्य का निर्माण होने लगा है। फिर मानवता की नयी कल्पना भी, जिसने आधुनिक साहित्य मे ईश्वर का स्थान ले लिया है, अधिकाश मे हिन्दी के लिए नई चीज है। यह प्राचीन विश्व-मैत्री के आदर्श से पूर्णत भिन्न है, जिसमें 'आब्रह्मस्तम्भ पर्यन्त' सर्वभूत के हित की चिन्ता रहती थी। इन और अन्य प्रेरणामूलक विचारो का यथेष्ट प्रचार न होने से केवल हिन्दी समझने वाली जनता के लिए इस कविता का रसास्वादन करना कठिन हो गया है।

इसलिए अग्रेजी साहित्य से परिचित सहृदय-जन जिन लोगो को वहुत उच्च कोटि के कवि मानते है, उन्हे ही उस साहित्य से अपरिचित लोग 'छायावादी' कहकर और अवोधगम्य मानकर उपेक्षा करते है। हाल ही में 'इम्प्रेशनिस्ट' कहकर व्यग करने की प्रवृत्ति भी परिलक्षित हुई है। यह प्रवृत्ति कभी-कभी उच्च कोटि की पत्रिकाओ में भी प्रकाशित होती देखी गई है।

काव्य-पुस्तको मे लवी-लवी भूमिकाओ द्वारा कवि वेवसी के साथ अपने और अपने पाठको के वीच के व्यवधान के भरने की चेष्टा करता है। यह चेष्टा कभी-कभी उपहासास्पद अवस्था तक पहुँच गई है। लेकिन असल मे इस व्यवधान को आधुनिक शास्त्रो के प्रचार-द्वारा ही भरा जा सकता है।

वैयक्तिकता और भावुकता के ह्रास के साथ ही साथ, और इन्ही के परिणामस्वरूप इधर पिछले वर्षो की तुलना मे सस्ते और भाव-प्रवण गीतो की वहुत कमी हुई है। इन रचनाओ मे मुश्किल से दो-एक गीत मिलेगे। परन्तु कुछ लोग इस दिशा मे अग्रसर होकर अपने लिए नये क्षेत्र की सूचना दे रहे है। जिन कवियो ने इस नये रास्ते पर चलना पसन्द

नही किया है उनमे भी गीत लिखने की प्रवृत्ति कम ही दिखायी पडी है।

(५)

जैसा कि ऊपर कहा गया है, वैयक्तिकता का ह्रास और वक्तव्य वस्तु के याथार्थ्य की वृद्धि ही इधर की प्रधान उल्लेख-योग्य घटना है। इस प्रवृत्ति का परिणाम ध्वनि-मूलक रचनाओ की प्रधानता ही होनी चाहिए। पिछली व्यक्तित्व-प्रधान कविताओ में कवि अपने अनुराग-विराग का इतना अधिक गाना गाता था, अपने भीतर के स्थायी-सचारी भावो का इतना अधिक वर्णन करता था (अब भी यह प्रवृत्ति चली नहीं गयी है) कि उसका वक्तव्य अर्थ बहुत कुछ वाच्य के रूप में ही प्रकट होता था। उसमें व्यंजकत्व की गुजायश बहुत कम रह जाती थी। आज जब कि कवि अपनी ओर से यथा-सभव कम कहकर वस्तु के याथार्थ्य को समझाने की चेष्टा कर रहा है, व्यग्यार्थ का प्रधान होना ही उचित था।

युद्धोत्तर कालीन यूरोपीय काव्य में, कहते हैं, ऐसा ही हुआ है। परन्तु हिन्दी में ऐसा अभी नही हो पाया है। यहाँ काव्य का व्यग्य गुणीभूत हो गया है। इस अत्यत सीमित काल की कुछ परिमित कविताओ में, जो अभी नितान्त भ्रूणावस्था में ही है, यह बात चिंताजनक नही है। अभी कवि के समस्त पाठ्य-निरीक्षणो के भीतर से आधुनिक युग की हडबडी, उसकी दीनता और उसके दु ख प्रकाशित नही हो पाये हैं।

अधिकाश कविताएँ चाहते हुए भी यह व्यग्य करने में असमर्थ रही हैं कि आज के युग में व्यक्ति वर्ग-सघर्ष मे ऐसी बुरी तरह से पिस गया है कि उसे रोने-हँसने या दुलार-प्यार जताने की फुरसत भी नही। फिर भी इतनी आशा तो की ही जा सकती है कि इस प्रवृत्ति की बढती के साथ ही साथ कविता में ध्वनि-प्राणता की मात्रा बढती ही जायगी, लेकिन ध्वनि-

प्राणता बढे या घटे, जो बात निश्चित है वह यह है कि प्राचीनो द्वारा निर्धारित रसो की ध्वनि की सभावना क्रमश कम होती जा रही है ।

ये कविताएँ किसी स्थायी भाव को नही बल्कि नितात अस्थायी मनोभावो को उत्तेजित करती है । ऐसा जान पडता है कि आगे चलकर इसमे सघर्ष की , असतोप की और असामजस्य की ध्वनि प्रधान होती जायगी, और सहयोग की, सतोष की और सामजस्य की ध्वनि क्रमश क्षीण होती जायगी । काल-प्रवाह हमे इसी ओर लिये जा रहा है ।

भगवान श्रीकृष्ण

डा० मुंशीराम शर्मा

महात्मा कृष्ण द्वैपायन व्यास ने महाभारत में जहाँ कौरवों और पांडवों के चरित अंकित किये हैं, वहाँ भगवान कृष्ण की यशोगाथा भी चित्रित की है। यह गाथा महाभारत की समस्त कथाओं की केन्द्र बिन्दु है। यदि यह कहा जाय कि अन्य गाथायें इस गाथा से ही प्रेरणा तथा स्फूर्ति पाती हैं तो अत्युक्ति न होगी। श्रीकृष्ण का चरित्र महाभारतीय युग का सर्वाधिक उज्ज्वल तथा तेजस्वी चरित्र है।

इस चरित को पढ़ कर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि श्रीकृष्ण शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक तीनों दृष्टियों से अत्यंत विकसित उच्च कोटि के मानव थे और 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' कह कर यदि आर्य संस्कृति ने उन्हें मानवता के मूर्धन्य स्थान पर भी अभिषिक्त कर दिया है, तो वह उचित ही है।

महाभारत के अनुसार वे बलिष्ठ शरीरवाले योद्धा, नीति-निपुण राजदूत, अत्यंत दक्ष सारथी, समर विद्या में पारंगत, वेदों के विद्वान्, महात्मा और योगाचार्य थे। वे सत्यवादी, ब्राह्मणों का सम्मान करने वाले, इन्द्रियजयी और अत्यंत विनय-संपन्न महापुरुष थे। अपने समय की राजनीति का अध्ययन करके उन्होंने जिस रूप में उसका संचालन और नेतृत्व किया वह भारतवर्ष के लिए कल्याणकारी था।

उन दिनों आर्य और अनार्य दो प्रकार की संस्कृतियों में संघर्ष प्रचलित था। कंस एक अनार्य राक्षस के वीर्य से उत्पन्न हुआ था, अतः स्वाभा-

विक रूप से उसकी मनोवृत्ति अनार्य सस्कृति की ओर झुकी हुई थी। श्रीकृष्ण ने अपनी किशोरावस्था मे ही इस कस का वध किया और उसके द्वारा कारागार मे डाले हुए अपने माता-पिता—देवकी और वसुदेव तथा महाराज उग्रसेन का उद्धार किया। कस के साथ और भी कई राजा थे जो आर्य परम्परा के प्रतिकूल प्रजापीडक, लोकद्वेषी एव निरकुश शासन करनेवाले बने हुए थे। श्रीकृष्ण ने अपने बाहुबल एव बुद्धि-चातुर्य से इन सभी राजाओ को या तो स्वय निहत किया या दूसरो से कराया। मगधराज जरासध, चेदि-अधिपति शिशुपाल, सौभनगर का शाल्वराज, प्राग्ज्योतिप का भौम नरकासुर तथा अन्य कई उच्छृखल शासक उनकी कोपाग्नि मे भस्म हुए। इस प्रकार अनार्य सस्कृति का प्रचार एव प्रसार करने वाले तत्वो का उन्मूलन करके उन्होने आर्य सस्कृति के लोक-रक्षक रूप का उन्नयन किया।

महाराज धृतराप्ट्र का पुत्र दुर्योधन भी अनार्य प्रथाओ का पोषक, घोर स्वार्थी और पराकाष्ठा का अहम्मन्य था। इसके साथ गाधार, बाल्हीक, काम्बोज, सिन्धु, तथा मद्र देशो के क्षत्रिय राजा थे। दूसरी ओर पाण्डु-पुत्र धर्मराज युधिष्ठिर और उनके सहोदर लोकपक्ष के समर्थक तथा आर्य परम्परा के अनुकूल चलनेवाले थे। जब दुर्योधन न्याय-सम्मत राज्याश को भी पाडवो को देने के लिए सहमत न हुआ तो श्रीकृष्ण ने धर्मात्मा पाडु-पुत्रो का साथ दिया और भयकर महाभारतीय युद्ध का सूत्रपात हुआ। विराट, पचाल, काशी, चेदि, सृजय, तथा वृष्णि वश के क्षत्रिय इस युद्ध में पाण्डवो के सहयोगी बने। समस्त भारतवर्ष दो पक्षो मे विभाजित हो गया। एक पक्ष स्वार्थसाधक अनार्य परम्पराओ का प्रेमी था तो दूसरा आर्य सस्कृति का अटल अनुयायी। श्रीकृष्ण दूसरे पक्ष के साथ थे और "यतो धर्म (कृष्ण) ततो जय" की उक्ति के अनुसार अन्त मे दूसरे पक्ष की ही विजय हुई। इस विजय के मुख्य साधक श्रीकृष्ण ही थे। युधिष्ठिर और अर्जुन ही नही,

भीष्म और धृतराष्ट्र की भी यही धारणा थी कि जिस पक्ष मे श्रीकृष्ण होंगे उसी पक्ष की विजय होगी। यह विजय वास्तव में अनार्यत्व पर आर्यत्व की विजय थी और श्रीकृष्ण थे उस विजय के सर्व-प्रमुख मंगलमय सूत्रधार। इस प्रकार वे आर्य संस्कृति के सर्वोच्च उन्नायक, प्रतिष्ठाता तथा सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि के रूप मे हमारे सामने उपस्थित होते है। उनके उस मंगल विधायक रूप के आगे उन दिनो की आर्य जनता श्रद्धा पूर्वक नतमस्तक हुई थी और आज तक वह उनके ओजस्वी तथा ऊर्जस्वित जीवन से प्रभावित एवं अनुप्राणित होती चली आ रही है। महाभारत मे लिखा है —

> वेदवेदांगविज्ञानं बलं चाप्यधिकं तथा।
> नृणां हि लोके कोन्योऽस्ति विशिष्टः केशवादृते ॥
>
> सभापर्व ३८-१९

अर्थात् श्रीकृष्ण मे बल की अधिकता है और साथ ही ये वेद-वेदांगो के विद्वान है। ब्राह्म और क्षात्र दोनो शक्तियो का सुन्दर समन्वय उनके अन्दर विद्यमान है। अतः संसार मे ऐसा कौन मनुष्य है जो श्रीकृष्ण से बढकर हो। वेद मे भी ब्राह्म एवं क्षात्र शक्ति के सहयोग की प्रभूत प्रशंसा की गई है। आर्य संस्कृति मे एकांगी क्षात्र शक्ति तथा अकेली ब्राह्म शक्ति पंगु मानी गई है। श्रीकृष्ण मे दोनो शक्तियाँ आकर एकत्रित हो गई थी। अतः वे आर्य संस्कृति के उज्ज्वल निदर्शन है। इसी स्थल पर महाभारतकार ने श्रीकृष्ण के कतिपय अन्य गुणो पर भी प्रकाश डाला है। व्यास जी लिखते है —'दान, चातुर्य, शूरता, लज्जा, कीर्ति, उत्तम बुद्धि, विनम्रता, श्री, धैर्य, संतोष और पुष्टि ये सब गुण श्रीकृष्ण मे विद्यमान है। वे लोक मे संपन्न, आचार्य, पालक, पूजनीय और अर्घ देने के योग्य है।"

महाभारत मे अर्जुन और श्रीकृष्ण को नर और नारायण ऋषियो का अवतार कहा गया है। दोनो सखा भी कहलाते है। जब अर्जुन ने श्रीकृष्ण

और उनकी सेना मे से अपने लिए केवल श्रीकृष्ण को स्वीकार किया तो श्रीकृष्ण ने पूछा—"तुमने मुझे ही क्यो ग्रहण किया ?" अर्जुन ने उत्तर दिया—"आपकी कीर्ति ससार मे फैली हुई है।" इससे प्रकट होता है कि श्रीकृष्ण अपने सद्‌गुणो के कारण उस समय विश्व-विख्यात हो रहे थे। विश्व-ख्याति का ऐसा महापुरुष जिसके साथ होगा उसकी कीर्ति निस्सदेह दिग्दिगन्त-व्यापिनी होगी। अर्जुन के सबध मे यही हुआ भी। उनका नाम आजतक श्रीकृष्ण के साथ लिया जाता है। गीता कहती है—

"यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयोभूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥"

जहाँ योगेश्वर कृष्ण और गाण्डीव धनुर्धर अर्जुन है, वही श्री है, वही वैभव है और वही विजय है।

महाभारत मे लिखा है—

कृष्णो हि मूले पाण्डूनां पार्थः स्कंध इवोद्‌गतः।
शाखा इवेतरे पार्थाः पञ्चाला. पत्रसञ्ज्ञिताः॥

द्रोण पर्व १८२-२३

वास्तव मे पाण्डवो की विजय के मूल मे श्रीकृष्ण ही थे। जैसे किसी वृक्ष का मूल उसका समस्त वोझ वहन करता है, उसका एकमात्र आश्रय होता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण पाण्डवो की विजय रूप वृक्ष के मूल थे। अर्जुन इस वृक्ष का स्कन्ध (तना) था। अन्य पाण्डव शाखा और पाचाल पत्तो के सदृश थे। जयद्रथ, आचार्य द्रोण, कर्ण और दुर्योधन का निधन भी श्रीकृष्ण की युद्ध-नीति का ही परिणाम था। श्रीकृष्ण की बुद्धि और अर्जुन के गाण्डीव ने मिल कर समस्त अनार्य प्रवृत्ति वालो को समाप्त किया और आर्यत्व की प्रतिष्ठा की। कौरवो की पराजय और पाण्डवो की विजय मे इन दोनो शक्तियो का ही विशेष हाथ था। रण की समाप्ति

पर, जब भीम राजा धृतराष्ट्र की कोपाग्नि मे भस्म होने ही वाला था, उस समय भी श्रीकृष्ण ने ही भीम की लौह मूर्ति धृतराष्ट्र के सामने प्रस्तुत करके उसे मृत्यु के मुख में से निकाला था।

श्रीकृष्ण के चरित्र पर पाश्चात्य पादरियों ने अनेक लाछन लगाये है। राधा तथा अन्य गोपिकाओ का नाम लेकर उन्हे व्यभिचारी कहा गया है। राजनीति के क्षेत्र मे उन्हे असत्यभाषी कह कर अपमानित करने की भी चेष्टा की गई है। पर यह सब अनर्गल प्रलाप है। वे वास्तव मे उच्चकोटि के सयमी, योगी एव सत्यवादी थे। परीक्षित को जीवित करने के समय जो वाक्य उनके मुख से निकले है, वे उनके समस्त जीवन की साधना को नितान्त स्पष्ट कर देते है। वे कहते है —

"मैने खेल कूद में भी कभी मिथ्या भाषण नही किया है और युद्ध में कभी पीठ नही दिखाई है। मेरे इस पुण्य के प्रभाव से अभिमन्यु का यह बालक जीवित हो उठे। यदि धर्म और ब्राह्मण मुझे विशेष रूप से प्रिय है, यदि सत्य और धर्म मुझमें सदैव प्रतिष्ठित रहे है, यदि कस और केशी धर्म पूर्वक हमारे हाथ से मारे गए है, तो उस सत्य और धर्म के प्रभाव से यह बालक जीवित हो उठे।"

यदि वाणी में सत्य का बल है, तो वह निस्सदेह फलवती होती है। श्रीकृष्ण के वचन सफल हुए और परीक्षित के निर्जीव मास-पिण्ड में चेतना का सचार हो उठा। जीवन-सचार का यह प्रभाव क्या कामी, मिथ्यावादी की वाणी में हो सकता है ? अत जो आरोप श्रीकृष्ण जी के चरित्र पर लगाए जाते है, वे किसी विकृत मस्तिष्क की दूषित वाणी का परिणाम है।

गीता की ज्ञान-राशि, सभव है, व्यासजी के मस्तिष्क की ही उपज हो, पर यह तो निर्विवाद रूप से स्वीकार करना ही पडेगा कि वह ज्ञान-राशि श्रीकृष्ण जैसे योगाचार्य की ही शिक्षा का प्रसार है। इस शिक्षा का मूल तत्व अनासक्ति योग है। कर्म, भक्ति और ज्ञान की इस पावन त्रिवेणी में

प्रधानता कर्म-रूप गगा की ही है। श्रीकृष्ण के उपदेशानुसार हमें फल की आकाक्षा छोड कर कर्म करना चाहिए। भक्ति एव ज्ञान के क्षेत्र में भी उन्होने अनासक्त रहने का उपदेश दिया है। इस विश्व में हमें जल में कमल की भाँति निवास करना चाहिए —हम रहे, कर्म करे, परन्तु विश्व से एकदम निर्लिप्त, असपृक्त, असवद्ध, अनासक्त। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के द्वितीय मत्र में भी यही उपदेश दिया गया है ।

श्रीकृष्ण का जो जीवन आशा, उल्लास, आह्लाद और आमोद-प्रमोद के साथ प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण मे, व्रज के करील कुजो में और यमुना के पावन पुलिन पर प्रारम्भ हुआ था, जिस जीवन ने एक वार समस्त विश्व को प्रभावित किया था, जिसका यश सौरभ दिग्दिगन्त में व्याप्त हो गया था, जो सात्वत धर्म का प्रतिष्ठाता तथा अनासक्ति योग का आचार्य था, उस जीवन का पटाक्षेप जिन करुण स्मृतियो के वीच हुआ, उन्हे अनुभव कर के मानव-हृदय एक वार तो कराह कर चीख ही उठता है। तो क्या महाभारत ग्रीक ग्रन्थो जैसा विषादान्त काव्य है ?

भारत की समन्वयवादी बुद्धि ने इस प्रश्न का उत्तर आज तक नही दिया। महाभारत की यह उक्ति तो सत्य ही है कि 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्'—जो कुछ इस ग्रन्थ मे है, वही अन्य ग्रन्थो मे है और जो यहाँ नही है, वह अन्यत्र किसी भी स्थान पर नही है, पर ऐसा होते हुए भी आर्यो के सत्सगो मे, कथाओ और वार्ताओ मे महाभारत को प्राय. परि यक्त किया जाता रहा है। जनता वाल्मीकि रामायण की कथा सुनती है, श्रीमद्‌भागवत का सप्ताह चलता है, तुलसीकृत रामचरित मानस का पाठ होता है, पर महाभारत का नाम लेते ही न जाने क्यो, किसी विशेष कारणवश, लोग कानो पर हाथ रख लेते है। उनके सामने गृह-युद्ध की विभीषिका खडी हो जाती है, आत्म-सहार का वीभत्स चित्र उपस्थित हो जाता है और हृदय-गगन को भेद कर निकली हुई हाहाकार

की करुण ध्वनि इस व्योम-विवर को आप्लुत कर देती है। पर जो सत्य है, उससे मानव आँखें भी तो नहीं मूँद सकता।

महाभारत की कथा और श्रीकृष्ण का चरित्र हमारे सामने जीवन का कठोर सत्य उपस्थित करते हैं। जीवन का यह यथार्थवाद रामायण के आदर्शवाद से नीचे ही सही, पर वह हमारी आँखें खोलने के लिए पर्याप्त सामग्री रखता है। आदर्शवाद हमारी आँखों को ऊपर ले जाता है, पर प्रत्यक्षवाद उन्हें सामने, पीछे और इधर-उधर देखने के लिए विवश कर देता है। यदि इस निबन्ध के द्वारा इस कार्य की थोड़ी-सी भी पूर्ति पाठक कर सकें तो मेरा परिश्रम सफल है।

जीवन और काव्य

पं० श्रीनारायण अग्निहोत्री, एम० ए०

काव्य जीवन-वन का कुसुम है और जीवन उस काव्य-कुसुम के सौरभ का प्रसार है। जीवन की सरस भावना का अन्तिम विकसित रूप काव्य है और काव्य के महत् उद्देश्य का निखरा हुआ रूप जीवन है। काव्य में हम जीवन की भाव को स्वप्नों के रूप में सँवारते हैं और जीवन में हम काव्य के सत्य की वास्तविकता की भूमि पर अवतारणा करते हैं। काव्य जीवन में जीवन पाता है और जीवन का जीवन काव्य ही होता है।

जीवन क्या है? यह प्रश्न सृष्टि के आदि प्रश्नों में अपना स्थान रखता है। कोई इसको अस्तित्व के प्रकट रूप की संज्ञा देते हैं। अन्य मनीषी सत्ता के अपरोक्ष रूप को भी जीवन की परिधि में समेट लाते हैं। साधारण जन पशु जीवन और मानव जीवन के रूप में साँसों के भरने और निकालने के क्रम को जीवन का नाम देते हैं। विचारक (दार्शनिक) आत्मा के परोक्ष व्यापार को जीवन के रूप में प्रस्तुत करते हैं। जिज्ञासु और मुमुक्षु मृत्यु और जन्म के 'कामा' और 'सेमी कोलन' के पार भी अवान्तर भेद में जीवन के संश्लिष्ट क्रम में विश्वास रखते हैं।

काव्य क्या है? यह प्रश्न प्राचीनतम न होते हुए भी सृष्टि के आदि प्रश्नों की भाँति ही दुरूह है। काव्य को साधारणतया हम वाणी-विलास के रूप में स्वीकार करते हैं। कोई-कोई इसे अवकाश के क्षणों के सुन्दर उपयोग के रूप में देखते हैं। आचार्यों की दृष्टि में भाषा की शक्ति के सौन्दर्य का प्रयास-सिद्ध रूप काव्य है। रसिकों के मत में काव्य हृदय की

रसात्मक अनुभूति का सुखद विस्तार है। विचारक काव्य को अन्तर्दृष्टि द्वारा ज्ञात सत्य के मनोरम रूप में लेता है।

इस प्रकार हम देखते है कि जीवन और काव्य भगवान के विराट रूप की समता-सी करते हुए प्रतीत होते है। जीवन ससार के प्रसार में व्याप्त होकर उससे भी आगे बढने का हौसला रखता है। समय की सीमा भी उसको बाँध रखने मे असमर्थ है। प्रलय भी उसके अकुर को नष्ट नहीं कर सकती। इसी प्रकार काव्य चेतना की सीमा के बाहर भी प्रेरणा और अन्तर्दर्शन के रूप मे अपने मूल की रक्षा करता रहता है।

मूल मे काव्य और जीवन, सौन्दर्य और सत्य की भाँति एक है। काव्य जीवन की निधि है। जीवन अपने परिष्कृत और शुद्धतम रूप में आत्मा की साधना के व्यापार के प्रकट रूप मे हमारे सामने आता है। विश्व-कल्याण की भावना आत्म-कल्याण की सीमा की रक्षा करते हुए प्रकृति मे बिखरे हुए सत्य और सौन्दर्य के समेटने का प्रयास करती है। इस प्रयास का क्रियात्मक रूप जीवन है और तज्जन्य अनुभूति ही काव्य का स्वरूप पा जाती है।

काव्य जीवन का है, अत उसकी प्रेरणाएँ भी जीवन से ही मिलती है। जीवन की अनेकरूपता सिद्ध ही है। अत तदनुरूप काव्य भी विभिन्नता का आकर्षण पा जाता है। जीवन एक सा न होकर अपने ऊँचे और नीचे दोनो रूपो मे हमारे सामने आता रहता है। उसी प्रकार काव्य ऊपर उठता तथा आदर्श से गिरता है, पर सदैव आगे बढता रहता है।

काव्य का सृष्टा एक व्यक्ति होता है। वह अपने व्यक्तित्व को कभी निस्पृहता से काव्य मे व्यक्त करता है। कभी वह मानवता का प्रतीक बन-कर काव्य-क्षेत्र मे अवतीर्ण होता है। कभी-कभी वह युग प्रतिनिधि के रूपमे कला-क्षेत्र मे प्रवेश करता है। समय की माँग कभी-कभी उसे आलोचक, नियन्ता और सृष्टा के रूप मे प्रस्तुत करती है। दूसरे शब्दो में काव्य तत्का-

लीन जीवन की गति और दिशा का अनुशीलन करते हुए अपने कार्य-व्यापार मे आगे बढता है ।

काव्य को हम जीवन का दर्शन एव समाज का दर्पण इसी अर्थ में कहते हैं कि काव्य अपने प्रकट रूप को समाज के लीला विस्तार से पाता है, और उसमे निहित उद्देश्य जीवन मे निहित सत्य और सौन्दर्य का आश्रय लेकर पलता है। यदि किसी भी समय के साहित्य को ले तो हम यह स्पष्ट देखेंगे कि तत्कालीन जीवन की प्रगति मे ही उसका आदि स्रोत है। हिन्दी साहित्य अपने तत्कालीन जीवन का काव्यमय अविकल अनुवाद है। वीरो की हुकार, समय की विवशता, राजाओ की निष्क्रिय विलासप्रियता, पैरो तले कुचली भावना की तिलमिलाहट, जागृत मस्तिष्क की बेताबी तथा पुनर्निर्माण की आकाक्षा सभी तो यथाक्रम अपने-अपने समय के काव्य मे कवि-वाणी मे मुखरित हो उठे है ।

कभी-कभी एक समय की व्यापक भावना के साथ ही साथ वैयक्तिक रूप से अथवा सीमित रूप से एक दूसरी भावना भी अपना अस्तित्व अक्षुण्ण रखती है। इसी कारण हम प्रवृत्ति विशेष के विरुद्ध अथवा उससे पृथक काव्य के रूप का दर्शन पाते है। वीरगाथा काल मे विद्यापति की शृगारिक कल्पना और रीतिकाल मे भूषण की हुकार इसके उदाहरण है।

जीवन से पृथक काव्य की कल्पना ऐसी ही है जैसे बिना मूल के वृक्ष की कल्पना करना। जो काव्य जीवन से प्रेरणा नही प्राप्त करता वह काव्य के रूप मे भी उन्मत्त के प्रलाप से अधिक महत्व नही पाता। कोरी कल्पना शब्द-जाल का जादू भले ही फैला दे परन्तु जीवन से सबध न रहने से उसमे स्थायित्व का बल तथा सत्य के प्रकाश मे टिकने की क्षमता न होगी।

हाँ, यहाँ एक बात विचारणीय है। जीवन अपने व्यापक रूप मे प्रकट जीवन से कही अधिक बडा है। हम जितने विचार मन मे लाते है, जितनी भावना-लहरें हमारे हृदय सागर में उठती है, जितनी अनुभूति हमारे अन्तर म

पल्लवित होती है उसका क्षुद्रतम अंश भी क्रियात्मक जीवन में नहीं आ पाता। फिर हम एक जीवन की अनुभूतियों को जन्म जन्म की अनुभूतियों के परिणाम स्वरूप पाते हैं। जब मानव वर्तमान जीवन के विस्तार में अपने को समेटकर अनुभूति की ऊँचाई में ऊपर उठता है और काल तथा दूरी की सीमाओं का अतिक्रमण करता हुआ अनन्त शक्ति के अभिसार में प्रवृत्त होता है, तब वह रहस्यव्यापार साधारण जीवन के बाहर का-सा प्रतीत होते हुए भी जीवन के विराट रूप से अपना सबंध जोड़ता है। वह जीवनातीत अनुभूति ही जीवन की सीमा को साधारणत्व के पार ले जाती है। जिस प्रकार मानव अपने में उठ कर भी अपने ही में रहता है उसी प्रकार काव्य का वह अशरीरी स्वरूप तथा उसकी वह अमूर्त भावनाएँ जीवन की परिधि में ही रहती हैं।

यहीं पर हम काव्य के उद्देश्य की सीमा बाँधने का प्रयास कर सकते हैं, यद्यपि यह वैसा ही है जैसा सरिता के प्रबल प्रवाह को बाँधने का प्रयास करना। जीवन का प्रवाह तो अनेक धाराओं में होकर बहता है, तदनुरूप काव्य की धाराओं की गति और दिशा भी एक नहीं। प्रत्येक धारा एक विशेष उद्देश्य को लेकर आगे बढ़ती है। परन्तु यह विभिन्न उद्देश्य अपनी चरम सीमा में एक ही सिद्धि की प्रतिष्ठा करते हैं।

काव्य का उद्देश्य अपने निम्नतम धरातल में क्षणिक विनोद का रूप लेता है। कुछ आगे बढ़ने पर वह बुद्धि विलास के रूप में कुतूहल-शान्ति को अपना अन्तिम उद्देश्य बना लेता है। उपयोगितावाद के प्रकाश में काव्य संसार में यश, अर्थ, तथा व्यवहार-क्षमतादि की प्राप्ति में अपने प्रयत्न की सिद्धि का स्वरूप देखता है। अपने ऊँचे उठे हुए रूप में काव्य रसानन्द की अनुभूति में अपने उद्देश्य की इतिश्री मानता है। हम इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि मानव काव्य को भावना के कल्प-तरु की क्षमता देता है जिससे वह इच्छानुसार अपने जीवन के समस्त आनन्द की प्राप्ति कर सकता है—

जिससे वह जीवन की पूर्ण सफलता की प्राप्ति का वरदान प्राप्त कर सकता है। परन्तु साथ ही यह भी ध्यान मे रखने की बात है कि इस कल्प-तरु की जडे जीवन मे होती है और उसकी छाया और फल जीवन के लिए होते है। इस कल्प-तरु को पोषणतत्व जीवन की भूमि तथा वातावरण के अन्तरिक्ष से प्राप्त होते है। जीवन काव्य को जन्म देता है और काव्य का उद्देश्य जीवन की जीवनशक्ति को आह्लाद के अमृत से सिचित करके अमरता प्रदान करना होता है।

इस सबध मे प्रचलित एक विवाद यह है कि काव्य जीवन से स्वतन्त्र है। यह प्रवाद पश्चिम से दो नारो के रूप मे आया है—'Art for Art's sake' कला कला के लिए और 'Poetry for Poetry's sake' काव्य काव्य के लिए। यदि इन प्रवादो का अभिप्राय यह है कि काव्य अथवा कला का सत्य दो और दो चार के सत्य से भिन्न है तो हमे कुछ नही कहना है। परन्तु यदि 'कला कला के लिए' अथवा 'काव्य काव्य के लिए' का अर्थ कवि-कर्म की उच्छृङ्खलता का द्योतक है अथवा जीवन-व्यापार से पलायन करने का समर्थक है तो काव्य और जीवन के विपय मे इससे अधिक भ्रमात्मक विचार कोई नही हो सकता। कवि सृष्टा की भाँति नियामक भी है। उसकी पूर्ण स्वतन्त्रता मे नि शेष सयम की सिद्धि है। अपनी पूर्णता मे वह समष्टि की पूर्णता का प्रतीक है। साधक, आलोचक, जिज्ञासु तथा आनन्दमय अवस्था प्राप्त सभी स्थितियो मे जीवन का सपर्क उससे रहता है। भावो के धरातल के अनुरूप ही उसकी अनुभूति जीवन के उच्च, उच्चतर तथा उच्चतम रूपो का साहचर्य प्राप्त करती हुई तदनुरूप काव्य की सृष्टि करती है। उसका व्यवहार ज्ञान अपनी अनुभूति को अनुकूल भाषा के परिधान मे प्रस्तुत करता है। पाठक अपने जीवन के पूरक के रूप मे उसे ग्रहण करता है। आज तक किसी को जीवन से सबध-विच्छेद करके काव्य का आस्वादन करते हुए नही पाया गया (यहाँ यह ध्यान रहे

कि भोजन तथा दैनिक व्यापार मात्र ही जीवन नहीं होता। जीवन की परिधि में हिमालय की कन्दराए भी है।) और न जीवन के बाहर काव्य का कोई उद्देश्य ही है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि काव्य और जीवन का अन्योन्याश्रय सबध है। पुष्प और भूमि की भांति काव्य और जीवन एक दूसरे के निकट है। पुष्प से भूमि का गौरव है और पुष्प मिट्टी को भी अपनी सुगन्धि देता है। काव्य जीवन का है। जीवन से उसे प्रेरणा मिलती है और विश्व-कल्याण की भावना उसे जीवन के लिए सत्य और सौन्दर्य का सश्लिष्ट स्वरूप प्रदान करती है।

आधुनिक नारी

सुश्री महादेवी वर्मा

(१)

मध्य और नवीन युग के सधिस्थल मे नारी ने जब पहले-पहल अपनी स्थिति पर असतोप प्रकट किया, उस समय उसकी अवस्था उस पीडित के समान थी, जिसकी प्रकट वेदना के अप्रकट कारण का निदान न हो सका हो। उसे असह्य व्यथा थी, परन्तु इस विषय मे 'कहाँ' और 'क्या' का कोई उत्तर न मिलता था। अधिक गूढ कारणो की छानबीन करने का उसे अवकाश भी न था, अत उसने पुरुप से अपनी तुलना करके जो अन्तर पाया उसी को अपना दयनीय स्थिति का स्पष्ट कारण समझ लिया। इस क्रिया मे उसे अपनी व्याधि के कुछ कारण भी मिले सही, परन्तु यह धारणा नितान्त निर्मूल नही कि इस खोज मे कुछ भूले भी सभव हो सकी। दो वस्तुओ का अन्तर सदैव ही उनकी श्रेष्ठता और हीनता का द्योतक नही होता, यह मनुष्य प्राय भूल जाता है। नारी ने भी यही चिर परिचित भ्रान्ति अपनाई। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, शारीरिक विकास के विचार से और सामाजिक जीवन की व्यवस्था से स्त्री और पुरुप मे विशेप अन्तर रहा है और भविष्य मे भी रहेगा, परन्तु यह मानसिक या शारीरिक भेद न किसी की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करता है और न किसी की हीनता का विज्ञापन करता है। स्त्री ने स्पष्ट कारणो के अभाव मे इस अन्तर को विशेप त्रुटि समझा, केवल यही सत्य नही है, वरन् यह भी मानना होगा कि उसने सामाजिक अन्तर का कारण ढूंढने के लिए स्त्रीत्व को क्षत-विक्षत कर डाला।

उसने निश्चय किया कि वह उस भावुकता को आमूल नष्ट कर डालेगी, जिसका आश्रय लेकर पुरुष उसे रमणी समझता है, उस गृह-बन्धन को छिन्न-भिन्न कर देगी जिसकी सीमा ने उसे पुरुष की भार्या बना दिया है और उस कोमलता का नाम भी न रहने देगी जिसके कारण उसे बाह्य जगत के कठोर सघर्ष से बचने के लिए पुरुष के निकट शरणार्थी होना पडा है। स्त्री ने सामूहिक रूप से जितना पुरुष जाति को दिया उतना उससे पाया नही, यह निर्विवाद सिद्ध है, परन्तु इस आदान-प्रदान की विषमता के मूल मे स्त्री और पुरुष की प्रकृति भी कार्य करती है, यह न भूलना चाहिए। स्त्री अत्यधिक त्याग इसलिए नही करती, अत्यधिक सहनशील इसलिए नही होती कि पुरुष उसे हीन समझकर उसके लिए बाध्य करता है। यदि हम ध्यान से देखेंगे तो ज्ञात होगा कि उसे यह गुण मातृत्व की पूर्ति के लिए प्रकृति से मिले है। यह अच्छे है या बुरे, इसकी विवेचना से विशेष अर्थ नही निकलेगा, जानना इतना ही है कि यह प्राकृतिक है या नही। इस विषय मे स्त्री स्वय भी अन्धकार मे नही है। वह अपनी प्रकृतिजनित कोमलता को त्रुटि चाहे मानती हो, परन्तु उसे स्वाभाविक अवश्य समझती है अन्यथा उसके इतने प्रयास का कोई अर्थ न होता। परिस्थितिजन्य दोष जितने शीघ्र मिट सकते है उतने शीघ्र सस्कारजन्य नही मिटते, यही विचार स्त्री को आवश्यकता से अधिक कठोर बने रहने को विवश कर देता है। परन्तु यह कठिनता इतनी सयत्न होती है कि स्त्री स्वय भी सुखी नही हो पाती। कवच बाहर की बाण-वर्षा से शरीर को बचाता रहता है, परन्तु अपना भार शरीर पर डाले बिना नही रह सकता।

आधुनिक स्त्री ने अपने जीवन को इतने परिश्रम और यत्न से जो रूप दिया है वह कितना स्वाभाविक हो सका है, यह कहना अभी सभव नही। हाँ, इतना कह सकते है कि वह बहुत सुन्दर भविष्य का परिचायक नही जान पडता। स्त्री के लिए यदि उसे किसी प्रकार उपयोगी समझ भी लिया

जावे तो भावी नागरिको के लिए उसकी उपयोगिता समझ सकना कठिन ही है ।

आधुनिकता की वायु मे पली स्त्री का यदि स्वार्थ मे केन्द्रित विकसित रूप देखना हो तो हम उसे पश्चिम मे देख सकेगे । स्त्री वहाँ आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र हो चुकी है, अत सारे सामाजिक बन्धनो पर उसका अपेक्षाकृत अधिक प्रभुत्व कहा जा सकता है । उसे पुरुप के मनोविनोद की वस्तु बने रहने की आवश्यकता नही है, अत वह चाहे तो परम्परागत रमणीत्व को तिलाजलि देकर सुखी हो सकती है । परन्तु उसकी स्थिति क्या प्रमाणित कर सकेगी कि वह आदिम नारी को दुर्बलता से रहित है ? सभवत नही । शृगार के इतने सख्यातीत उपकरण, रूप को स्थिर रखने के इतने कृत्रिम साधन, आकर्पित करने के उपहासयोग्य प्रयास आदि क्या इस विपय मे कोई सदेह का स्थान रहने देते है ? नारी का रमणीत्व नष्ट नही हो सका, चाहे उसे गरिमा देने वाले गुणो का नाश हो गया । यदि पुरुष को उन्मत्त कर देने वाले रूप की इच्छा नही मिटी, उसे बॉध रखने वाले आकर्पण की खोज नही गई तो फिर नारीत्व की ही उपेक्षा क्यो की गई, यह कहना कठिन है । यदि भावुकता ही लज्जा का कारण थी तो उसे समूल नष्ट कर देना था, परन्तु आधुनिक नारी ऐसा करने मे भी असमर्थ रही । जिस कार्य को वह बहुत सफलता-पूर्वक कर सकी है वह प्रकृति से विकृति की ओर जाना मात्र था । वह अपनी प्रकृति को वस्त्रो के समान जीवन का बाह्य आच्छादनमात्र बनाना चाहती है, जिसे इच्छा और आवश्यकता के अनुसार जब चाहे पहना या उतारा जा सके । बाहर सघर्पमय जीवन मे जिस पुरुष को नीचा दिखाने के लिए वह सभी क्षेत्रो मे कठिन से कठिन परिश्रम करेगी, जीवन-यापन के लिए आवश्यक प्रत्येक वस्तु को अपने स्वेदकणो से तौलकर स्वीकार करेगी, उसी पुरुप मे, नारी के प्रति जिज्ञासा जाग्रत रखने के लिए वह अपने सौन्दर्य और अग-सौष्ठव

के रक्षार्थ असाध्य से असाध्य कार्य करने के लिए प्रस्तुत है। आज उसे अपने रूप, अपने शरीर और अपने आकर्षण का जितना ध्यान है उसे देखते हुए कोई भी विचारशील, स्त्री को स्वतन्त्र न कह सकेगा।

स्त्री के प्रति पुरुष की एक रहस्यमयी जिज्ञासा सृष्टि के समान ही चिरन्तन है, इसे अस्वीकार नही किया जा सकता, परन्तु यह जिज्ञासा उनके सबन्ध का 'अथ' और 'इति' नही। प्राचीन नारी ने इस 'अथ' से आरभ करके पुरुष से अपने सबन्ध को ऐसी स्थिति में पहुँचा दिया जहाँ उन दोनो के स्वार्थ एक और व्यक्तित्व सापेक्ष हो गए। यही नारी की विशेषता थी, जिसने उसे मनोविनोद के सुन्दर साधनो की श्रेणी से उठाकर गरिमामयी विधात्री के ऊँचे आसन पर प्रतिष्ठित कर दिया।

आधुनिक नारी पुरुष के और अपने सबध को रहस्यमयी जिज्ञासा से आरभ करके उसे वही स्थिर रखना चाहती है जो सभवत उसे किसी स्थायी आदान-प्रदान का अधिकार नही देता। सध्या के रगीन बादल या इन्द्रधनुष के रग हमें क्षणभर विस्मय-विमुग्ध कर सकते हैं किन्तु इससे अधिक उनकी कोई सार्थकता हो सकती है, यह सोचना भी नही चाहते। आज की सुन्दर नारी भी पुरुष के निकट और कोई विशेष महत्व नही रखती। उसे स्वय भी इस कटु सत्य का अनुभव होता है, परन्तु वह उसे परिस्थिति का दोषमात्र समझती है। आज पुरुष के निकट स्त्री प्रसाधित शृंगारित स्त्रीत्व मात्र लेकर खडी है, यह वह मानना नही चाहती, परन्तु वास्तव में यही सत्य है। पहले की नारी जाति केवल रूप और वय का पाथेय लेकर ससार यात्रा के लिए नही निकली थी। उसने ससार को वह दिया जो पुरुष नही दे सकता था, अत उसके अक्षय वरदान का वह आज तक कृतज्ञ है। यह सत्य है कि उसके अयाचित वरदान को ससार अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझने लगा, जिससे विकृति भी उत्पन्न हो गई, परन्तु उसके प्रतिकार के

जो उपाय हुए वे उस विकृति को दूसरी ओर फेरने के अतिरिक्त और कुछ न कर सके।

पश्चिम मे स्त्रियो ने बहुत कुछ प्राप्त कर लिया परन्तु सब कुछ पाकर भी उनके भीतर की चिरन्तन नारी नही बदल सकी। पुरुष उनके नारीत्व की उपेक्षा करे, यह उसे भी स्वीकार न हुआ, अत वह अथक मनोयोग से अपने बाह्य आकर्षण को बढाने और स्थायी रखने का प्रयत्न करने लगी। पश्चिम की स्त्री की स्थिति मे जो विशेषता है उसके मूल मे पुरुष के प्रति उसकी स्पर्धा के साथ ही उसे आकर्षित करने की प्रवृत्ति भी कार्य करती है। पुरुष भी उसकी प्रवृत्ति से अपरिचित नही रहा इसी से उसके व्यवहार मे मोह और अवज्ञा ही प्रधान है। स्त्री यदि रगीन खिलौने के समान आकर्षक है तो वह विस्मय-विमुग्ध हो उठेगा, यदि नही तो वह उसे उपेक्षा की वस्तुमात्र समझेगा। यह कहने की आवश्यकता नही कि दोनो ही स्थितियाँ स्त्री के लिए अपमानजनक है। पश्चिमीय स्त्री की स्थिति का अध्ययन कर यदि हम अपने देश की आधुनिकता से प्रभावित महिलाओ का अध्ययन करे तो दोनो ही ओर असतोष और उसके निराकरण मे विचित्र साम्य मिलेगा।

हमारे यहाँ की स्त्री शताब्दियो से अपने अधिकारो से वचित चली आ रही है। अनेक राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियो ने उसकी अवस्था मे परिवर्तन करते-करते उसे जिस अधोगति तक पहुँचा दिया है वह दयनीयता की सीमा के अतिरिक्त और कुछ नही कही जा सकती। इस स्थिति को पहुँचकर भी जो व्यक्ति असतोष प्रकट नही करता उसे उस स्थिति के योग्य ही समझना चाहिए। कोमल तूल सी वस्तु भी बहुत दबाये जाने पर अन्त मे कठिन जान पडने लगती है। भारतीय स्त्री भी एक दिन विद्रोह कर ही उठी। उसने भी पुरुष के प्रभुत्व का कारण अपनी कोमल भावनाओ को समझा और उन्ही को परिवर्तित करने का प्रयत्न किया। अनेक सामाजिक रूढियो और परम्परागत सस्कारो के कारण उसे पश्चिमीय स्त्री के

समान न सुविधाएँ मिली और न सुयोग, परन्तु उसने उन्ही को अपना मार्ग-प्रदर्शक बनाना निश्चित किया।

शिक्षा के नितान्त अभाव और परिस्थितियों की विषमता के कारण कम स्त्रियाँ इस प्रगति को अपना सकी और जिन्होंने इन बाधाओं से ऊपर उठकर उन्हें अपनाया भी उन्हें उनका बाह्य रूप भी अधिक आकर्षक लगा। भारतीय स्त्री ने भी अपने आपको पुरुष की प्रतिद्वन्द्विता में पूर्ण देखने की कल्पना की, परन्तु केवल उसी रूप में उसकी चिरन्तन नारी-भावना सतुष्ट न हो सकी। उसकी भी प्रकृतिजन्य कोमलता अस्ति नास्ति के बीच में डगमगाती रही। कभी उसने सपूर्ण शक्ति से उसे दबाकर अपनी ऐसी कठोरता प्रकट की जो उसके कुचले ममत्व का विज्ञापन करती थी और कभी क्षणिक आवेग में प्रयत्नप्राप्त निष्ठुरता का आवरण उतार कर अपने अहेतुक हल्केपन का परिचय दिया। पुरुष कभी उससे वैसे ही भयभीत हुआ जैसे सज्ञान विक्षिप्त से होता है और कभी वैसे ही उस पर हँसा जैसे बड़ा व्यक्ति बालक के आयास पर हँसता है। कहना नही होगा कि पुरुष के ऐसे व्यवहार से स्त्री का और अधिक अनिष्ट हुआ, क्योंकि उसे अपनी योग्यता का परिचय देने के साथ साथ अपने ज्ञान और बड़े होने का प्रमाण देने का प्रयास भी करना पड़ा। उसके सारे प्रयत्न और आयास अपनी अनावश्यकता के कारण ही कभी-कभी दयनीय से जान पड़ते है, परन्तु वह करे भी तो क्या करे! एक ओर परम्परागत संस्कार ने उसके हृदय में यह भाव भर दिया है कि पुरुष विचार, बुद्धि और शक्ति में उससे श्रेष्ठ है और दूसरी ओर उसके भीतर की नारी-प्रवृत्ति भी उसे स्थिर नही रहने देती। इन्ही दोनों भावनाओं के बीच में उसे अपनी ऐसी आश्चर्यजनक क्षमता का परिचय देना है जो उसे पुरुष के समकक्ष बैठा दे। अच्छा होता यदि स्त्री प्रतिद्वन्द्विता के क्षेत्र में बिना उतरे हुए ही अपनी उपयोगिता के बल पर स्वत्वों की माग सामने रखती, परन्तु परिस्थितिया इसके अनुकूल नही थी।

जो अप्राप्त है उसे पा लेना कठिन नहीं है परन्तु जो प्राप्त था उसे खोकर फिर पाना अत्यधिक कठिन है। एक में पानेवाले की योग्यता संभावित रहती है और दूसरे में अयोग्यता, इसीसे एक का कार्य उतना श्रमसाध्य नहीं होता जितना दूसरे का। स्त्री के अधिकारों के विषय में भी यही सत्य है।

(२)

इस समय हम जिन्हें आधुनिक काल की प्रतिनिधि के रूप में देखते हैं, वे महिलाएँ तीन श्रेणियों में रक्खी जा सकती हैं। त्रिवेणी की तीन धाराओं के समान वे एक-सी होकर भी अपनी विशेषताओं में भिन्न हैं। कुछ ऐसी हैं, जिन्होंने अपनी युगान्तदीर्घ बन्धनों की अवज्ञा कर पिछले कुछ वर्षों में राजनीतिक आन्दोलन को गतिशील बनाने के लिए पुरुषों को अभूतपूर्व सहायता दी, कुछ ऐसी शिक्षिताये हैं जिन्होंने अपनी अनुकूल परिस्थितियों में भी सामाजिक जीवन की त्रुटियों का कोई उचित समाधान न पाकर अपनी शिक्षा और जागृति को आजीविका और सार्वजनिक उपयोग का साधन बनाया और कुछ ऐसी संपन्न महिलाएँ हैं, जिन्होंने थोड़ी-सी शिक्षा के साथ बहुत-सी पाश्चात्य आधुनिकता का संयोग कर अपने गृह-जीवन को एक नवीन साँचे में ढाला है।

कार्य करनेवाली वृत्तियों को समझने के लिए ही है। आधुनिकता की एक-रूपता को भारतीय जागृत महिलाओं ने अनेक रूपों में ग्रहण किया है, जो स्वाभाविक ही था। ऐसी कोई नवीनता नहीं है, जो प्रत्येक व्यक्ति को भिन्न रूप में नवीन नहीं दिखाई देती, क्योंकि देखने वाले का भिन्न दृष्टिकोण ही उसका आधार होता है। प्रत्येक स्त्री ने अपनी असुविधा, अपने सुख-दुःख और अपने व्यक्तिगत जीवन के भीतर से उस नवीनता पर दृष्टिपात किया, अतः प्रत्येक को उसमें अपनी विशेष त्रुटियों के समाधान के चिह्न दिखाई पड़े।

इन सबके आचरणों को भिन्न-भिन्न रूप से प्रभावित करने वाले दृष्टि-कोणों का पृथक् पृथक् अध्ययन करने के उपरान्त ही हम आधुनिकता के वातावरण में विकसित नारी की कठिनाइयाँ समझ सकेंगे। उनकी स्थिति प्राचीन रूढ़ियों के बन्धन में बन्दिनी स्त्रियों की स्थिति से भिन्न जान पड़ने पर भी उससे स्पृहणीय नहीं है। उन्हें प्राचीन विचारों का उपासक पुरुष-समाज अवहेलना की दृष्टि से देखता है, आधुनिक दृष्टिकोणवाले समर्थन का भाव रखते हुए भी क्रियात्मक सहायता देने में असमर्थ रहते हैं और उग्र विचार वाले प्रोत्साहन देकर भी उन्हें अपने साथ ले चलना कठिन समझते हैं। वस्तुतः आधुनिक स्त्री जितनी अकेली है, उतनी प्राचीन नहीं, क्योंकि उसके पास निर्माण के उपकरण मात्र हैं, कुछ भी निर्मित नहीं। चौराहे पर खड़े होकर मार्ग का निश्चय करने वाले व्यक्ति के समान वह सबके ध्यान को आकर्षित करती रहती है, किसी से कोई सहायतापूर्ण सहानुभूति नहीं पाती। यह स्थिति आकर्षक चाहे जान पड़े, परन्तु सुखकर नहीं कही जा सकती।

राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने वाली महिलाओं ने आधुनिकता को राष्ट्रीय जागृति के रूप में देखा और उसी जागृति की ओर अग्रसर होनेमें अपने सारे प्रयत्न लगा दिये। उस उथल-पुथल के युग में स्त्री ने जो किया वह अभूतपूर्व होने के साथ-साथ उसकी शक्ति का प्रमाण भी था। यदि उसके

बलिदान, उसके त्याग भूले जा सकेगे तो उस आन्दोलन का इतिहास भी भूला जा सकेगा। इस प्रगति द्वारा सार्वजनिक रूप से स्त्री-समाज को भी लाभ हुआ। उसके चारो ओर फैली हुई दुर्बलता नष्ट हो गई, उसकी कोरी भावुकता छिन्न-भिन्न हो गई और उसके स्त्रीत्व से शक्तिहीनता का लाछन दूर हो गया। पुरुष ने अपनी आवश्यकतावश ही उसे साथ आने की आज्ञा दी, परन्तु स्त्री ने उससे पग मिलाकर चलकर प्रमाणित कर दिया कि पुरुष ने उसकी गति पर बन्धन लगाकर अन्याय ही नही, अत्याचार भी किया है। जो पगु है उसी के साथ गतिहीन होने का अभिशाप लगा है, गतिवान को पगु बनाकर रखना सबसे बडी क्रूरता है।

राष्ट्र को प्रगतिशील बनाने मे स्त्री ने अपना भी कुछ हित-साधन किया, यह सत्य है, परन्तु मधु के साथ कुछ क्षार भी मिला था। उसने जो पाया वह भी बहुमूल्य है और जो खोया वह भी बहुमूल्य था, इस कथन मे विचित्रता के साथ-साथ सत्य भी समाहित है।

आन्दोलन के समय जिन स्त्रियो ने आधुनिकता का आह्वान सुना उसमे सभी वर्गो की शिक्षिता स्त्रियाँ रही। उनकी नेत्रियो के पास इतना अवकाश भी नही था कि वे उन सबके बौद्धिक विकास की ओर ध्यान दे सकती।

यह सत्य है कि उन्हे कठोरतम सयम सिखाया गया, परन्तु वह सैनिको के सयम के समान एकागी ही रहा। वे यह न जान सकी कि युद्ध-भूमि मे प्रतिक्षण मरने के लिए प्रस्तुत सैनिक का सयम, समाज मे युग तक जीवित रहने के इच्छुक व्यक्ति के सयम से भिन्न है। एक बन्धनो की रक्षा के लिए प्राण देता है तो दूसरा बन्धनो की उपयोगिता के लिए जीवित रहता है। एक अच्छा सैनिक मरना सिखा सकता है और एक सच्चा नागरिक जीना, एक मे मृत्यु का सौदर्य है और दूसरे मे जीवन का वैभव। परन्तु अच्छे सैनिक

का अच्छा नागरिक होना यदि अवश्यंभावी होता तो सम्भवतः जीवन अधिक सुन्दर बन गया होता।

स्वभावतः ही सैनिक का जीवन उत्तेजनाप्रधान होगा और नागरिक का समवेदनाप्रधान। इसी से एक के लिए जो सहज है वह दूसरे के लिए असम्भव नहीं तो कष्टसाध्य अवश्य है।

आन्दोलन के युग में स्त्रियों ने तात्कालिक संयम और उससे उत्पन्न कठोरता को जीवन का आवश्यक अंग मानकर स्वीकार किया, अपने प्रस्तुत उद्देश्य का साधन मात्र मानकर नहीं। इसने उनके जीवन में जो एक रूक्षता व्याप्त हो गई है, उसने उन्हीं तक सीमित न रहकर उनके सुरक्षित गृहजीवन को भी स्पर्श किया है। वास्तव में उनमें से अधिकांश महिलाएँ रूढ़ियों के भार से दबी जा रही थीं, अतः देश की जागृति के साथ-साथ उनकी जाति ने भी आत्मविज्ञापन का अवसर और उसके उपयुक्त साधन पा लिए। यही इन परिस्थितियों में स्वाभाविक भी था, परन्तु वे यह स्मरण न रख सकीं कि विद्रोह केवल जीवन के विशेष विकास का साधन होकर ही उपयोगी रह सकता है। वह सामाजिक शक्ति का परिचय नहीं, उसके असंतोष की अभिव्यक्ति है।

उस करुण युग के अनुष्ठान में भाग लेने वाली स्त्रियों ने जीवन की सारी सुकोमल कला नष्ट करके संसार-संग्राम में विद्रोह को अपना अमोघ अस्त्र बनाया। समाज उनके त्याग पर श्रद्धा रखता है, परन्तु उनकी विद्रोहमयी रूक्षता से सभीत है। जीवन का पहले से सुन्दर और पूर्ण चित्र उनमें नहीं मिलता, अतः अनेक आधुनिकता के पोषक भी उन्हें संदिग्ध दृष्टि से देखते हैं। अनन्त काल से स्त्री का जीवन तरल पदार्थ के समान सभी परिस्थितियों के उपयुक्त बनता आ रहा है, इसलिए उसकी कठिनता आश्चर्य और भय का कारण बन गई है। अनेक व्यक्तियों की धारणा है कि उच्छृंखलता की सीमा का स्पर्श करती हुई स्वतन्त्रता, प्रत्येक अच्छे-बुरे बन्धन के प्रति

उपेक्षा का भाव, अनेक अच्छे-बुरे व्यक्तियो से सख्यत्व और अकारण कठोरता आदि उनकी विशेषताएँ है। इस धारणा मे भ्राति का भी समावेश है, परन्तु यह नितान्त निर्मूल नही कही जा सकती। अनेक परिवारो मे जीवन की कटुता का प्रत्यक्षीकरण स्त्रियो की कठोरता का सीमातीत हो जाना ही है, यह सत्य है, परन्तु इसके लिए केवल स्त्रियाँ ही दोषी नही ठहराई जा सकती। परिस्थिति इतनी कठोर थी कि उन्हे उस पर विजय पाने के लिए कठोरतम अस्त्र ग्रहण करना पडा। उनमे जो विचारशील थी, उन्होने प्राचीन नारियो के समान् कृपाण और ककण का सयोग कर दिया, जो नही थी उन्होने अपने स्त्रीत्व से अधिक विद्रोह पर विश्वास किया। वे जीने की कला नहीं जानती, परन्तु सघर्ष की कला जानती है, जो वास्तव मे अपूर्ण है। सघर्ष की कला लेकर तो मनुष्य उत्पन्न ही हुआ है, उसे सीखने कही जाना नही पडता। यदि वास्तव मे मनुष्य ने इतने युगो मे कुछ सीखा है तो वह जीने की कला कही जा सकती है। सघर्ष जीवन का आदि हो सकता है, अन्त नही। इसका यह अर्थ नही कि सघर्षहीन जीवन ही जीवन है। वास्तव मे मनुष्य-जाति नष्ट करने वाले सघर्ष से अपने आपको बचाती हुई विकास करने वाले सघर्ष की ओर बढती जाती है।

सामाजिक प्रगति का अर्थ भी यही है कि मनुष्य अपनी उपयोगिता बढाने के साथ-साथ नष्ट करने वाली परिस्थितियो की सम्भावना कम करता चले। किसी परिस्थिति मे वह हिम के समान अपने स्थान पर स्थिर हो जाता है और किसी परिस्थिति मे वह जल के समान तरल होकर अज्ञात दिशा मे वह चलता है। स्त्री का जीवन भी अपने विकास के लिए ऐसी ही अनुकूलता चाहता है, परन्तु सामाजिक जीवन मे परिस्थिति की अनुकूलता मे विविधता है। हम अपना एक ही केन्द्र-बिन्दु बनाकर जीवन-सघर्ष मे नही ठहर सकते और न अपना कल्याण ही कर सकते है। स्त्री की जीवन-शक्ति का ह्रास इसी कारण हुआ कि वह अपने आपको अनुकूल या प्रतिकूल

परिस्थिति के अनुरूप बनाने मे असमर्थ रही। उसने एक केन्द्र-बिन्दु पर अपनी दृष्टि को तब तक स्थिर रखा, जब तक चारो ओर की परिस्थितियो ने उसकी दृष्टि नही रोक ली। उस स्थिति मे प्रकाश से अचानक अन्धकार मे आए हुए व्यक्ति के समान वह कुछ भी न देख सकी। फिर प्रकृतिस्थ होने पर उसने वही पिछला अनुभव दोहराया।

जागृति-युग की उपासिकाओ के जीवन भी इस त्रुटि से रहित नही रहे। उन्होने अपनी दृष्टि का एक ही केन्द्र बना रक्खा है, अत उन्हे अपने चारो ओर के सदिग्ध वातावरण को देखने का न अवकाश है और न प्रयोजन। वे समझती है कि वे राष्ट्रीय जागृति की अग्रदूती के अतिरिक्त और कुछ न बनकर भी अपने जीवन को सफलता के चरम सोपान तक पहुचा देगी। इस दिशा मे उनकी गति का अवरोध करने वालो की सख्या कम नही रही, यह सत्य है। परन्तु इसीलिए वे अपना गन्तव्य भी नही देखना चाहती यह कहना बहुत तर्कपूर्ण नही कहा जा सकता। ऐसा कोई त्याग या बलिदान नही जिसका उद्गम नारीत्व न रहा हो, अत केवल त्याग के अधिकार को पाने के लिए अपने आपको ऐसा रूक्ष बना लेने की कोई आवश्यकता नही जान पडती।

जिन शिक्षिताओ ने गृह के बन्धनो की अवहेलना कर सार्वजनिक क्षेत्र मे अपना मार्ग प्रशस्त किया उनकी कहानी भी बहुत कुछ ऐसी ही है। उनके सामने नवीन युग का आह्वान और पीछे अनेक रूढियो का भार था। किसी विशेष त्याग या बलिदान की भावना लेकर वे नये जीवन-सग्राम मे अग्रसर हुई थी, यह कहना सत्य न होगा। वास्तव मे गृह की सीमा मे उनसे इतना अधिक त्याग और बलिदान मॉगा गया कि वे उसके प्रति विद्रोह कर उठी। स्वेच्छा से दी हुई छोटी-से-छोटी वस्तु मनुष्य का दान कहलाती है, परन्तु अनिच्छा से दिया हुआ अधिक से अधिक द्रव्य भी मनुष्य का अधीनता-सूचक कर ही समझा जायगा। स्त्री को जो कुछ बलात् देना

पडता है वह उसके दान की महिमा न बढा सकेगा, यह शिक्षिता स्त्री भली भाँति जान गई थी।

भविष्य मे भारतीय समाज की क्या रूप रेखा हो, उसमे नारी की कैसी स्थिति हो, उसके अधिकारो की क्या सीमा हो आदि समस्याओ का समाधान आज की जाग्रत और शिक्षित नारी पर निर्भर है। यदि वह अपनी दुरवस्था के कारणो को स्मरण रख सके और पुरुष की स्वार्थपरता को विस्मरण कर सके तो भावी समाज का स्वप्न सुन्दर और सत्य हो सकता है। परन्तु यदि वह अपने विरोध को ही चरम लक्ष मान ले और पुरुप से समझौते के प्रश्न को ही पराजय का पर्याय समझ ले तो जीवन की व्यवस्था अनिश्चित और विकास का क्रम शिथिल होता जायगा।

क्रान्ति की अग्रदूती और स्वतन्त्रता की ध्वजा-धारिणी नारी का कार्य जीवन के स्वस्थ निर्माण मे शेष होगा, केवल ध्वस मे नहीं।

पश्चात्ताप

श्री सद्गुरुशरण अवस्थी

पाप की परेशानी का दूसरा नाम पश्चात्ताप है। वह बुराई की थकावट है। तीव्र प्रतिक्रिया का वेग होने के कारण उसमें पवित्रता के दर्शन होते हैं। वास्तव मे वह पाप और पुण्य की ऐसी पतली मेड़ है जिसकी फिसलन दोनो ही ओर हो सकती है।

पश्चात्ताप आदर्श का सच्चा भाई है। वह आदर्श का ही पद-चिह्न है। जितना ही बली, जोशीला और सशक्त आदर्श होता है उतना ही गहरा पछतावा होता है। परन्तु पकड़ के लिए जैसे आदर्श नीहारिका की भाँति अग्राह्य है, फिसलने वाले के लिए पूर्व अनुभूत पश्चात्ताप भी वैसे ही बेकार है। काम और पश्चात्ताप दोनो ही अदेह हैं। एक पाप के पहले उत्पन्न होता है दूसरा पाप के बाद मे। परन्तु दोनो, क्षणिक हैं दोनो अस्थायी हैं।

अपने जीवन-व्यवहार के लिए मनुष्य कुछ स्वरूपो को स्थिर किये रहता है। इन स्वरूपो का निरूपण उन नाना परिस्थितियो का निष्कर्ष होता है जिसमे वह विचरण करता है। उसका व्यवहारशास्त्र विश्व की कसमसाहट और संघर्ष से फूट कर निकलनेवाला अंकुर है जो निरन्तर बढता रहता है। परिस्थितियाँ बदलती रहती है। नई प्रकार की कसमसाहट, नये प्रकार का संघर्ष और फिर नया व्यवहार व्यवस्था देता रहता है। इस दृष्टि से आज हम जिसे बुरा कहते हैं वह कल हमारे ही द्वारा अच्छा कहा जा सकता है और आज की अच्छी व्यवस्था कल बुरी हो सकती है।

पश्चात्ताप भी अपना आदर्श मनुष्य के आदर्श के साथ बदलता रहता है। जिस काम के करने से आज हमे पश्चात्ताप होता है सभव है कल उसके लिए प्रसन्नता हो। आज वह कार्य पाप का भाई बन्द है कल वही पुण्य का सगा हो सकता है। आज हम उससे घृणा करते है कल उसी का अभिनन्दन करेगे।

परन्तु यह न भूलना चाहिए कि पश्चात्ताप हृदय का एक प्रत्यय है, वह चितना और तर्क नही। वैसे तो हृदय के सुदृढ तलो से निकले उद्गार हमेशा चितना-निर्मित होते है—चाहे वह निर्माण-कार्य किसी समय हुआ हो—परन्तु जब तत्कालीन चितना का मेल एतत् कालीन चितना से नही खाता तो हृदय-उद्गार भी पिछडा हुआ रहता है। ऐसी दशा मे बहुधा पश्चात्ताप का उद्गार भी बेमेल होता है।

बात यह है कि हृदय हमेशा मस्तिष्क का अनुगामी होता है। इससे यह न समझना चाहिए कि वह हर क्षण चितना का कहना करता है, परन्तु वह चितना-निर्मित अवश्य होता है। एक बार जो विचार भावनिधि के कोष हो जाते हैं वे वहाँ कैद हो जाते है। वे सारे भाव रूप मे घुल मिल जाते है। यदि सरलता से कोई उन विचारो को हृदय की नसो से पृथक् करना चाहे तो नही कर सकता। मस्तिष्क निरन्तर प्रगतिशील है। उसकी विचार धाराओ का निरन्तर विकास होता है। ऐसी दशा मे पुरानी विचारधारा ने जिन मृद् भाडो को पकाया है वे फिर पकाये नहीं जा सकते। उन्हे तो फोडकर नया बनाना ही पडेगा। इस विध्वस और पुनर्निर्माण कार्य मे समय लगता है। इसीलिए हृदय को प्रत्यय समुन्नत चितना की दृष्टि मे पिछडे हुए दिखाई देते है।

बस ठीक यही बात है कि कई बार हमारे पश्चात्ताप के उद्गार बनावटी होते है। कारण यह है कि एक समय हमने एक काम को घोर पाप समझा। अतएव धीरे-धीरे हमने उसके प्रति घोर घृणा उत्पन्न कर ली। जब हममे

असावधानी के कारण वही काम हो जाता है तो हम घृणा की तीव्रता के कारण उतना ही तीव्र परिताप और पश्चात्ताप अनुभव करते है। आज हमारी चितना मे, उस कार्य के प्रति, वह विराग नही है। हम उसे अब पाप नही समझते। परन्तु हृदय ने मस्तिष्क की इस नवीन उन्नति को स्वीकार नही किया। अतएव हमारी भावनाओ के वेग म अभी अतर नही हो पाया। ऐसी दृष्टि मे कार्य के बाद जो पश्चात्ताप आज उदय होगा उनमे तीव्रता तो पुरानी ही रहेगी परन्तु मस्तिष्क के बिल्कुल कुछ और सोचने के कारण इस उद्गार मे बनावटीपन होगा।

पश्चात्ताप इसलिए समसामयिक न होने के कारण कभी-कभी कटुता प्रदर्शित करता है और कभी-कभी चितना के अनुरूप होने के कारण जीवन के व्यवहारपक्ष को सुधारता है। पश्चात्ताप स्वत नि सृत विकार है जिसका सरोकार मानवता से रहता है। मनुष्य के निजी चित्र की धूमिलता हटाकर पश्चात्ताप फिर उस पर रग फेरने का प्रयास करता है। परन्तु स्मरण रहे कि यह चित्र स्वनिर्मित है।

पश्चात्ताप को दैवी प्रेरणा समझना देवत्व को अस्वीकार करना है। ईश्वर हमारे हृदय मे पश्चात्ताप पैदा करता है यह कल्पना ईश्वर की शक्ति को सीमित करती है। विश्व के पश्चात्तापो मे कोई विशेष साम्य नही रहता। उनमे सार्वभौमिकता और चिरकालीनता का अभाव रहता है। यदि उन्हे ईश्वर की देन कहे तो ईश्वर के कार्यवैषम्य को समझने के लिए और ईश्वरवाद की प्रतिष्ठा के लिए नास्तिकता का सहारा लेना पडेगा।

जब हम अपने बनाये हुए अपने इतिहास से किसी क्षण विशेष मे मेल नही खाते अथवा अपने लिए स्थापित आदर्श से परिस्थितिवश च्युत हो जाते है तब जो उस इतिहास अथवा उस आदर्श के प्रति सवेदना उदय होती है वह पश्चात्ताप है। पश्चाताप को भावुकता के झझावात के पश्चात् का चमचमाता हुआ सूर्य समझना भूल है। वह न निर्मल विवेक

है और न अकाट्य तर्क। वह चिंतना का आकार है ही नहीं। वह तो भाव जगत का निवासी है। वह तो आँधी के बाद का विरोध-दिशागामी पवन है। किसी विचार अथवा किन्ही विचारो को कभी व्यवहार-आदर्श बनाया या विचारो की परपरा ने हृदय को एक विशेष प्रगति दी। उस व्यवहार-स्वरूप के प्रति आसक्ति बाद मे उत्पन्न हुई। जहाँ उस स्वरूप से व्यवहार-स्खलन हुआ वहाँ प्रतिक्रिया हुई, ग्लानि हुई या पश्चात्ताप हुआ। ये सब हृदय की क्रियाये है। इन सब पर, मस्तिष्क समीक्षा करता है। पश्चात्ताप भी उसकी परीक्षा का एक विषय रहता है।

पश्चात्ताप से शक्ति मिलती भी है और खोती भी है। यदि आज की विचारधारा के अनुकूल हमारा पश्चात्ताप प्रकृत दिखाई देता है तो उससे पाप विषयक हमारी घृणा को बल मिलता है। अतएव हमारी पुण्य-प्रवृत्ति और भी शक्ति-सम्पन्न हो जाती है। परतु मनुष्य मे बहुत-सी राक्षसी वृत्तियाँ काफी सबल है। वे उसके निर्माण मे सन्निहित है। उन पर विजय पाना सरल नही है। 'विपश्चित' व्यक्तियो के निरन्तर यत्न करने पर कर्मेन्द्रियाँ मन को मथ ही देती है और मन को पतन की ओर बलात् घसीट ले जाती है। ऐसी दशा मे मानव-स्वभाव के सहज धर्म को सहानुभूति के बिना समझे यदि पश्चात्ताप का गहरा कशाघात उस पर लगता रहे तो उसकी स्फूर्ति मद पड जाती है। उसमे घोर निराशा उत्पन्न हो जाती है। निराशा मे एक विताडना होती है। कार्य मे, गति मे, निराशा से एक श्लथ-भाव आ जाता है। यह शैथिल्य बुरी प्रवृत्तियो मे ही शिथिलता नही उत्पन्न करता, वरन् वह व्यक्ति के समूचे प्रगति-भाग मे अपना साम्राज्य स्थापित कर लेता है। चिरतन पश्चात्तापी इस गत्यात्मक ससार के लिए किसी कार्य का नही रहता। वह धर्म जानते हुए भी उस ओर मूढमति होकर बढ न सकेगा। अतएव उन्नतिशील व्यक्ति को पश्चात्ताप की गतिविधि का नियत्रण करना चाहिए।

पश्चात्ताप को धर्म की प्रेरणा समझना भी ठीक नहीं। यदि धर्म का कार्य स्थिति-धारणा है तो सब पश्चात्ताप उसमे योग नहीं देते। पश्चात्ताप-प्रदर्शन की प्रेरणा मे धार्मिकता हो सकती है पर धर्म के स्वरूप मे पश्चात्ताप का कोई विशेष महत्व नहीं। किए हुए कर्म पश्चात्ताप से विफल नहीं हो सकते। उनका बुरा परिणाम अवश्य घटित होगा। पश्चात्ताप कार्य-कारण वाले विश्व-नियम का उल्लघन नहीं कर सकता। जो धर्म पश्चाताप को यह महत्व देता है उसकी नीव अधविश्वास है। धर्म के नाम पर, भक्ति के नाम पर सब अनहोनी को होती हुई दर्शा देना मिथ्या प्रचार के बल पर धर्म-प्रचार करने का ढग है और धर्म को अधर्म के आसरे आगे बढाने की चेष्टा है। प्रगतिशील हिन्दू धर्म मे पश्चात्ताप को वह महत्व नहीं। पश्चिम के आज कितने ईसाई इस बात को मानते है कि मरते समय पश्चात्ताप कर लेने से स्वर्ग मिल जाता है? यदि अभी भी वे लोग यह मानते रहते तो क्षमापत्रो का बिकना बद न हो जाता।

मुसलमानो का 'तोबा' भी पश्चात्ताप ही है। यद्यपि साधारणतया प्रतिदिन की बातचीत मे लोग 'तोबा' का प्रयोग उस समय भी करते है जब वे किसी कार्य से ऊँब जाते है। परतु 'तोबा' का यथार्थ भाव पश्चात्ताप ही है।

पश्चात्ताप का ध्यान नीचे की ओर अधिक और ऊपर की ओर कम होता है। पश्चात्तापी के ध्यान मे पाप का ही स्वरूप अधिक स्पष्ट होता है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वह पाप करने के लिए पाप का ध्यान करता है। वरन् पाप से निवृत्त होने के लिए ही पाप के भीषण रूप को निरतर सोचा करता है। वह उस सफाई के दरोगा की भाँति है जो सफाई रखने के लिए नालियो का दिन भर निरीक्षण किया करता है। बुराई का निरतर ध्यान, अपनी असमर्थता और बलहीनता, पश्चात्तापी मे कभी-कभी उलटा प्रभाव उत्पन्न कर देते है। पाप का सर्वकालीन ध्यान

चाहे वह घृणा और ग्लानि के रूप मे ही क्यो न हो, पाप के प्रति मानसिक लगाव अवश्य उत्पन्न कर देता है। यह लगाव जागरूकता को और अशक्त कर देता है। विलगाव के लिए भी लगाव—मनोविज्ञान वतलाता है—प्रतिकूल परिणाम कभी-कभी उत्पन्न कर देता है। "वैर भाव सुमिरत मोहि निसिचर" ऐसा कह कर रामचद्रजी ने राक्षसो को मुक्ति प्रदान की थी।

शिक्षा-कला के पडित हमे वतलाते है कि वालको के सामने अशुद्धियाँ वहुत स्पष्ट रूप से आनी ही न चाहिए। अशुद्धियाँ समझाने के लिए भी अच्छे अध्यापक वालको के समक्ष अशुद्ध रूप नही रखते। अशुद्ध प्रयोग वालको के मनो मे कभी-कभी ऐसे पैठ जाते है कि वे उन्हे लाख प्रयत्न करने पर भी नही छोड सकते। अतएव चौबीसो घण्टे का पश्चात्ताप कभी-कभी नितात प्रतिकूल परिणाम उत्पन्न कर देता है।

निरतर नीचे देखने वाला पृथ्वी देख सकता है, आकाश नही। उसे कभी-कभी आकाश की परछाई प्रतिविवित करने वाले पृथ्वी के भागों मे अवश्य दिखाई दे सकती है; असली आकाश नही। निम्नाभिमुखी को उपरत्व का भास कठिनता से हो सकता है। वीमार व्यक्ति को यदि उसके ज्वर का माप समय-समय पर वतलाकर उसका हृदय तोड दिया जाय तो उसका अच्छा होना कठिन हो जायगा। उसे तो यही कहना चाहिए कि वह अच्छा हो रहा है। इसी से वह अच्छा होगा। पश्चात्तापी व्यक्ति पाप-चितना उत्पन्न कर के अपना अहित ही वहुधा कर डालता है।

वहुधा देखा गया है कि पग-पग पर कृत पाप के लिए रोनेवाले व्यक्ति की अपेक्षा विश्व के कल्याण के लिए वह व्यक्ति अधिक उपयोगी सिद्ध होता है जो कृत पाप को तुरत भुला कर जीवन-सग्राम मे दूने उत्साह से रत हो जाता है। पश्चात्ताप का तीव्र अनुताप न उसके शरीर को घुलाता

है और न उसकी स्फूर्ति को मद करता है। कोंच-कोंच कर कोई भावना हमें सत नही बना सकती। सहला कर और पुचकार कर कोई हमें पढा सकता है और आगे बढा सकता है। यदि कुम्हार घडे को ऊपर से थापी मे ठोकता रहे और भीतर हाथ न लगावे तो घडा कभी बन ही नही सकता। एकागी पश्चात्ताप उन्नति के लिए बहुधा सहायक नही होता।

ससार मे पश्चात्ताप के कई प्रयोग दिखाई देते है। कुछ व्यक्ति मुखर-पश्चात्ताप के आदी होते है। वे पश्चात्ताप का विज्ञापन करना धर्म और अध्यात्म उन्नति का अनिवार्य अग समझते है। उस मुखर-पश्चात्ताप के मूल मे प्रचारको के समक्ष लोक-सग्रह की भावना रहती है। परन्तु इसका कोई चिरस्थायी प्रभाव नही पडता। आए दिन की कथाओ की तरह उसका प्रभाव क्षणिक होता है।

मूक पश्चात्ताप अधिकतर व्यक्तिगत होता है। अपनी उन्नति और भलाई के लिए गुप्त रूप से साधक उस पश्चात्ताप को किया करता है। यदि सीमा का अतिक्रमण न किया गया तो यह पश्चात्ताप उपयोगी सिद्ध होता है।

पश्चात्ताप 'न वाचक' और 'हाँ वाचक' दोनो प्रकार का होता है। जब हम किसी पुण्य कार्य को किसी समय किसी परिस्थिति मे नही कर पाते तो जो पश्चात्ताप उदय होता है उसे 'न वाचक' पश्चात्ताप कह सकते है। और जब हम किसी पाप को कर डालने के कारण पश्चात्ताप अनुभव करते है तो उसे 'हाँ वाचक' पश्चात्ताप कहते है। पहले प्रकार मे कोई ग्लानि नही होती, वरन् अपनी अकर्मण्यता पर खेद और परिताप होता है दूसरे प्रकार मे वेग अधिक होता है। पहला यह प्रमाणित करता है कि हम अच्छे नही बन सके। दूसरा हमे निश्चित रूप से बुरा प्रमाणित कर देता है। पहले प्रकार के पश्चात्ताप मे विश्व के साथ गहरी सहानुभूति रहती

है। वास्तव मे सहानुभूति ही उस पश्चात्ताप के सारे रूप को छिपाये रहती है। इस पश्चात्ताप का सारा प्रदर्शन सहानुभूतिमय होता है। इसका सामाजिक रूप अधरो से 'चच्-चच्' कर के प्रकट किया जाता है। इसे 'चच्-चच्' वाची पश्चात्ताप कह सकते है। दूसरे प्रकार के 'हाँ वाची' पश्चात्ताप मे सहानुभूति की भावना बिल्कुल नही रहती।

प्रकृति का काव्यमय व्यक्तित्व

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी

प्रभात मे देखते है—पूरब मे प्रकाश का एक गोला निकलता है, चिडियाँ चहचहा उठती है, कृषक हल जोतने लगते है। फिर ? पश्चिम मे वह गोला धीरे-धीरे डूब जाता है, अँधेरा हो जाता है, चिडियाँ बसेरो में लौट पडती है, कृषक बैलो को साथ लिए हलो को कन्धे पर रखे हुए अपनी अपनी झोपडियो को चल देते है।

यदि किसी रचना मे इतनी ही बात लिख दी जाय तो वह कविता नही, कोरी तुकबन्दी बन जाएगी। कविता और तुकबन्दी मे अन्तर यह है कि हम ससार मे जो कुछ देखते है, तुकबन्दी उसका वर्णन भूगोल की तरह कर देती है। इस तरह का वर्णन तो स्कूल के मास्टर साहब भी भली भाँति कर सकते है। तो क्या वे भी कवि कहलावेगे ? नही, कवि तो उसे कहते है जो कि सृष्टि की प्रत्येक वस्तु को अपनी ही तरह सुख-दुखपूर्ण समझे, अपनी ही तरह उनमे भी हास और अश्रु देखे, अपनी ही तरह सृष्टि की प्रत्येक लीला मे जीवन का अनुभव करे, क्योकि सब मे एक ही परम चेतन (परमात्मा) की ज्योति छिपी हुई है। वही परम चेतन इस सृष्टि का नियन्ता है, यह सृष्टि ही उसकी कविता है। हमारे यहाँ उस परम चेतन के लिए कहा गया है—

"कविर्मनीषी परिभू. स्वयभू "

अर्थात् वही मनीषी, व्यापक, स्वयभू और कवि है।

हमारा कवि, ससार के उसी कविर्मनीषी का प्रतिनिधि है। इसीलिए

वह जड चेतन मे छिपी हुई उस एक ही परम चेतन की ज्योति को पहिचान कर उसके साथ अपनी आत्मा की ज्योति का सम्मिलन करा देता है। तव, उसे यह सारा ससार एक ही प्रकाश मे चमकता हुआ दिखाई पडता है। कमल की पँखुडियो की तरह भिन्न-भिन्न मालूम पडते हुए भी, वह इस सम्पूर्ण विश्व को सच्चिदानन्द पद्मरूप मे एक ही परिपूर्ण शतदल की तरह खिला हुआ देखता है। वह जब प्रभात मे वालारुण को उदय होते हुए देखता है तव उसे ऐसा जान पड़ता है मानो वह भी उसी की तरह धीरे-धीरे उदित हो रहा है।

जैसे प्रभात मे जग कर हम अपने-अपने कर्म-पथ पर चल पडते है, उसी भाँति सूर्य भी सुनहले रथ पर वैठ कर अपने कर्मक्षेत्र की ओर वढा जा रहा है। कवि को भूगोल और खगोल मे कोई भिन्नता नही दिखाई पडती। दोनो ही स्थानो मे वह एक ही जीवन-चक्र को घूमते हुए देखता है, उसे ऐसा जान पडता है कि एक ही सूत्रधार (परमात्मा) की उँगलियो के सकेत पर प्रकृति भिन्न-भिन्न पात्रो द्वारा एक ही महानाटक खेल रही है। इसी दृष्टि से, कवि जव किसी उपवन मे एक खिले हुए गुलाव को देखता है तो वह साधारण लोगो की तरह केवल यह नही देखता कि वह एक फूल मात्र है, वल्कि, वह तो उस प्यारे फूल को भी हमारी तुम्हारी तरह ही एक सजीव प्राणी समझता है। जैसे हम अपनी माँ की कोमल स्नेह-गोद मे हँसते खेलते है, वैसे ही वह भी प्रकृति की सरल गोद में हँसता-खेलता और लहराता है। उसका सैलानी साथी पवन, उसे दूर-दूर देशो की अनोखी-अनोखी वाते सुनाता है, जिन्हे सुनकर कभी तो वह विस्मित और स्तव्ध हो जाता है और कभी आनन्द से विह्वल होकर थिरकने लगता है।

तुम कहोगे—भला यह कैसे सम्भव है ? हमारी जैसी वहाँ चेतना कहाँ ?

इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हम लोग मुनियाँ (मुन्नी) के पास

चले। वह देखो, अपनी गुडिया के साथ किस तरह हिलमिल कर खेल रही है, किस तरह घुलमिलकर हंस बोल रही है।

रात मे जब सब लोग सोने लगते है, तब मुनिया भी अपनी प्यारी गुडिया को दूध भात खिला कर सुला देती है और अपने नन्हे-नन्हे हाथो मे कोमल-कोमल थपकियाँ दे-दे कर कहती है—'छो जा, मेली ल्यानी, छो जा।'

आओ, हम मुनियाँ से पूछे तो सही—बहिन, तुम्हारी गुडिया तो बोलती ही नही, फिर तुम कैसे उससे बाते करती हो?

लो, वह तो हमारी जिज्ञासा सुन कर बडे आश्चर्य मे हमारी ओर देखने लगी। उसे तो विश्वास ही नही होता कि उसकी प्यारी गुडिया उसी की तरह सजीव नही। जैसे वह अपनी माँ की मुनियाँ है, वैसी ही उसकी गुडिया भी तो उसकी मुनियाँ है।

बात यह है कि मुनियाँ ने अपने प्राणो को गुडिया मे ही डाल दिया है, इसीलिए वह न बोलते हुए भी मुनियाँ से बाते करती है। मुनिया उस बातचीत की भाषा को समझती है। क्योकि उसी ने तो उसमे प्राण डाला है। इसी तरह कवि भी, पुष्पो मे, वृक्षो मे, लहरो मे, तारो मे, सूर्य मे, शशि मे, सब मे अपने प्राणो को डाल देता है और वे सब के सब उसके लिए उसी की तरह सजीव हो उठते है। जैसे पारस लोहे को सोना कर देता है वैसे ही कवि की सजीवता जड को भी चेतन कर देती है।

आखिर इस नई सृष्टि और नई भाषा का उद्देश्य? इसके उत्तर मे मै पूछता हूँ—भाई, जिस मुहल्ले मे तुम रहते हो, वहाँ यदि तुम्हारे बहुत से गहरे साथी बन जाएँ तो तुम्हे क्या खुशी न होगी? उन अभिन्न साथियो के बीच हँसते-खेलते, बात की बात मे दिन ऐसे बीतते जायँगे कि तुम प्रतिदिन अपने जीवन को बहुत-बहुत प्यार करने लगोगे। तुम चाहोगे, अहा, एक एक दिन हजार-हजार वर्षो जैसा लम्बा हो जाय। इसीलिए और इसी भाँति, कवि भी सम्पूर्ण सृष्टि के साथ मित्रता जोड लेना

चाहता है—सब के साथ वह हँसता बोलता है, सब के साथ वह रोता-गाता है।

बन्धु, जब तुम हंसते हो, तब तुम्हारा साथी भी हँसता है। जब तुम रोते हो तो तुम्हारा साथी भी रोने लगता है। तुम्हारे सब साथी तुम्हारी ही सजीवता के कारण तुम्हारे हँसने-रोने की प्रतिध्वनि देते है। यदि तुम निर्जीव होते तो उनके भीतर से प्रतिध्वनि नही निकलती। तुम सजीव प्राणी हो, इसीलिए जगल का सुनसान सन्नाटा भी तुम्हारी बातो की प्रतिध्वनि देता है। दूसरी तरह, कवि भी सृष्टि की जिन-जिन जड चेतन वस्तुओ मे अपनी मित्रता जोडता है, वे सब उसी की सजीवता से सुस्पन्दित हो कर उसके ही हृदय की प्रतिध्वनि सुनाते है एव उसके ही जैसे सहृदय बन जाते है।

इसी मित्रता के कारण कवि, प्रकृति की प्रत्येक दिशा मे अपने ही जैसे जीवन की झलक देखता है। सृष्टि की मूक वस्तुओ को भी अपने ही जैसा हिलता-डुलता प्राणी समझता है। क्या यह कोई अच्छी बात नही है?

हाँ, तो कवि अखिल सृष्टि के साथ जितनी ही अधिक आत्मीयता जोडता है, उसकी कविता उतनी ही सुख-शान्तिपूर्ण एव आध्यात्मिक बन जाती है। हम भरतखड के निवासी है, हमारे कुछ अपने कवित्वपूर्ण विश्वास है। उन्ही विश्वासो के कारण हमने आसेतु-हिमाचल प्रकृति के अचल मे ही अपने तीर्थस्थल बनाये है। हमे वहाँ शीतलता मिलती है, शान्ति मिलती है, सान्त्वना मिलती है, यमुना हमे प्रीति प्रदान करती है, गगा हमे भक्ति दान करती है।

प्रकृति के मुकाबले आज स्वार्थो को जो प्रधानता मिल गई है, और मनुष्य प्रकृति से विच्छिन्न होकर नगर-नगर मे जो मिल और फैक्टरियाँ खोलता जा रहा है, उसका कारण है विज्ञानवाद। विज्ञान को प्रकृति—

विजयी होने का दावा है, इसीलिए राष्ट्र-रक्षा के नाम पर वह जंगल का जंगल काट कर उन्हें लड़ाई का मैदान भी बना सकता है। और मनुष्य के नाम पर मनुष्य के ही रक्त से पृथ्वी को सींच कर अन्तर्राष्ट्रीय शत्रुता का कँटीला झाड़ भी उगा सकता है। इस प्रकार तो प्रकृति ही नहीं, मनुष्य भी अपदार्थ होता जा रहा है, प्रधान हो गया है यन्त्रवाद। यहाँ तक कि मनुष्य भी यंत्रों के बनने लगे हैं। कवि जब प्रकृति के साथ आत्मीयता जोड़ने लगता है, तब वह इसी यन्त्रवाद के प्रतिकूल मानो मानवी चेतना को अग्रसर करता है।

काव्य-जगत में प्रकृति भी हमारी पारिवारिक है, हमारी वाटिका के खग-मृग, पुष्प-पवन और छाया-प्रकाश के निखिल रूप में। मनुष्य के जीवन में काव्य है, संगीत है, सौन्दर्य है। प्रकृति में भी यह सब कुछ है, इसीलिए विश्व-जीवन के साथ उसका ऐक्य है, पारिवारिक सौरस्य है। कवि पन्त ने श्रमजीवी मानव को प्रकृति के सान्निध्य में जिस चित्र-चारुता से उपस्थित किया है, वह इस यन्त्रवादी जड़-युग में मनुष्य और प्रकृति के स्नेह-सहयोग का सहज स्वाभाविक निदर्शन है—

बाँसों का झुरमुट,
सन्ध्या का झुटपुट,
हैं चहक रही चिड़ियाँ
टी-वी-टी—टुट्-टुट्!

वे ढाल-ढाल कर उर अपने
हैं बरसा रही मधुर सपने
श्रम-जर्जर विधुर चराचर पर
गा गीत स्नेह-वेदना-सने!

ये नाप रहे निज घर का मग
कुछ श्रमजीवी डगमग डग,
भारी है जीवन भारी पग!!

आ, गा-गा शत्-शत् सहृदय खग,
सन्ध्या बिखरा निज स्वर्ण सुभग,
औ' गन्ध पवन झल मन्द व्यजन
भर रहे नया इनमे· जीवन,
ढीली है जिनकी रग-रग!

'युगान्त'

यो ही अनेक प्रकार मे—

यह लौकिक औ' प्राकृतिक कला
यह काव्य अलौकिक सदा चला
आ रहा—सृष्टि के साथ पला!

इसे ससार का कोई भी 'रियलिज्म', कोई भी विज्ञान मिटा नही सकता, जब तक पृथ्वी पर कवि नामक प्राणी शेष है।

कविवर रवीन्द्रनाथ के शब्दो मे काव्य पढने के समय भी यदि हिसाब का खाता आगे खोल कर रखना पडता हो और वसूल क्या हुआ, इस बात का निश्चय उसी समय कर लिया जाता हो तो मैं यह स्वीकार करूँगा कि 'मेघदूत' से एक तथ्य पाकर हम आनन्दित हुए हैं। वह यह कि उस समय भी मनुष्य थे और उस समय भी आषाढ का प्रथम दिन नियमित समय पर आता था।

सादा जीवन और उच्च विचार

श्री दयाशंकर दुबे, एम० ए०

इस समय सारा संसार और विशेषकर भारतीय समाज बहुत संकट में है। सर्वत्र ही अशान्ति और दुःख का साम्राज्य है। गरीब तो दुःखी है ही, धनवान भी बहुत कष्ट में है और मध्यम श्रेणी के लोग अत्यधिक दुःख का अनुभव कर रहे हैं। पास में पैसा होते हुए भी हमको भोजन-सामग्री नहीं मिल पाती। दुधमुँहे बच्चे, असहाय स्त्रियाँ, शान्तिप्रिय नागरिक तथा अशक्त वृद्धजन बिना अपराध हजारों की संख्या में प्रतिदिन युद्ध-काल में बम के शिकार हो जाते हैं। युद्ध-मैदानों में खूब नरसंहार होता है, करोड़ों की सम्पत्ति प्रति दिन समुद्र के तल में पहुँचाई जाती है या अग्नि-देवता के समर्पण हो जाती है। प्रति दिन अरबों रुपया दूसरों को हानि पहुँचाने के लिए खर्च किया जाता है। इन सब बुराइयों का मुख्य कारण विश्वव्यापी महायुद्ध है। इस महायुद्ध का मुख्य कारण संसार के प्रधान राष्ट्रों का संकुचित स्वार्थ है जिसके कारण वे अपना-अपना साम्राज्य बढ़ाने की चिन्ता में व्यस्त हैं और दूसरों का शोषण कर वे अपनी उन्नति चाहते हैं। संसार का प्रत्येक राष्ट्र यह चाहता है कि वह सब से अधिक धनी हो जाय, उसके देशवासियों को सब से अधिक सब प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त हों जिससे वे अपनी सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति आसानी से करके सुख और शान्ति का अनुभव करने लगें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रत्येक स्वतंत्र राष्ट्र अपने देश में वस्तुओं को अधिक से अधिक मात्रा में उत्पन्न कर उसे अन्य देशों पर लादने का प्रयत्न करता है अपनी सेनाओं

को बढा कर दूसरे देशो को हथियाने का प्रयत्न करता है जिससे कि वह पराजित देशो के निवासियो का शोषण कर लाभ उठा सके। ये कार्य ऐसे है जिनसे शोषण करने वाले राष्ट्रो मे धन की वृद्धि भी हो जाती है पर देशवासियो को सुख और शान्ति नही मिल पाती। सुख और शान्ति प्राप्त करनेका उनका यह मार्ग ही ठीक नही है। धन की बढती के साथ ही साथ मनुष्य की इच्छाएँ भी बढती जाती है। किसी एक इच्छा की पूर्ति होने पर मन के परदे पर दूसरी इच्छा अकित हो जाती है, इस प्रकार मनुष्य की इच्छाओ का कभी अन्त नही होता। एक इच्छा पूरी होने पर और दूसरी इच्छा के अकित होने के सधिकाल मे मनुष्य को सुख की एक झलक दिखाई पडती है, परन्तु वह उसके रस का स्वाद भी नही लेने पाता कि तृष्णा उसका गला दवा देती है और वह दूसरी इच्छा के लिए आगे वढता है। बिना सव इच्छाओ की पूर्ति के सतोष कदापि नही मिलता। अत्यधिक प्रयत्न करने पर भी तथा धन की मात्रा वढने पर भी असतोष वना ही रहता है और मनुष्य सुख और शान्ति का अनुभव नही कर पाता। इसी असतोष को दूर करने के लिए अधिक जोश से कार्य आरभ होता है और प्रत्येक राष्ट्र ऐसे कार्य करने को तैयार हो जाता है जो दूसरे राष्ट्रो को हानिकारक होते है। इससे राष्ट्रो मे सघर्प पैदा हो जाता है, अन्त मे वह विश्वव्यापी युद्ध के रूप मे प्रकट हो जाता है। युद्ध में जो राष्ट्र हारते है उनको तो अधिक हानि होती ही है, परन्तु जो राष्ट्र जीतते है उनको भी कई वर्ष अपनी क्षति-पूर्ति करने मे लग जाते है। इस बीच में अन्य कोई राष्ट्र आगे जाने का प्रयत्न करता है और नये महायुद्ध को आवाहन देता है। जब तक राष्ट्रो का दृष्टिकोण सकुचित रहेगा और वे अपने स्वार्थो को साधने की धुन मे अन्य राष्ट्रो के हितो की अवहेलना करते रहेगे तव तक युद्धो का अन्त होना असभव है। यदि प्रत्येक राष्ट्र अपने प्रत्येक कार्य में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण रखे और ऐसा कार्य कभी न

करे जिससे दूसरे राष्ट्रो को हानि होती हो, तो ससार मे स्थायी शान्ति हो सकती है। प्रत्येक राष्ट्र अपने कार्य मे अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण तब तक नही रख सकता जब तक वह भौतिकवाद के चक्कर मे फसा हुआ है।

आजकल ससार के प्राय सभी राष्ट्र और देशवासी भौतिकवाद के गहरे रग मे रगे हुए है। वे भौतिक पदार्थो तथा धन को अधिकाधिक मात्रा मे प्राप्त करने की चिन्ता मे दिन रात लगे रहते है। वे धन को सुख-प्राप्ति का साधन न मान कर, उसको प्राप्त करना ही अपना ध्येय बना लेते है। धन प्राप्त करते समय वे इस बात का तनिक भी विचार नही करते कि वह किस तरीके से, जायज या नाजायज, बेईमानी या ईमानदारी से प्राप्त हो रहा है। ऐसे व्यक्ति अपने कार्यो द्वारा देश और समाज को तो हानि पहुँचा देते है, अपने आपको भी नुकसान पहुँचाते है। उनको धन तो प्राप्त हो जाता है परन्तु सुख और शान्ति नही मिल पाती। अधर्म या बेईमानी से प्राप्त हुआ धन, दूसरो को दुख पहुँचाकर प्राप्त हुआ धन प्राय विलासिता मे या मादक वस्तुओ के सेवन मे नष्ट हो जाता है। विलासिता की वस्तुओ के उपभोग से कुछ दिनो तक सुख तो मिलता है, परन्तु उनमे आवश्यकताओ की वृद्धि तीव्र गति से होती है और उनकी पूर्ति न हो सकने के कारण ऐसे व्यक्ति मे अशान्ति की वृद्धि होने लगती है। मादक वस्तुओ के सेवन से तो स्वास्थ्य ही चौपट हो जाता है और धनवान होने पर भी ऐसे व्यक्ति सुख और शान्ति के लिए तरसते हुए अपनी जीवन लीला समाप्त कर देते है।

इस भौतिकवाद के वातावरण मे, इस अर्थप्रधान युग मे ससार के अधिकाश व्यक्ति धन प्राप्त करने की चिन्ता मे इस बात को बिलकुल भूल जाते है कि उनके कार्यो से दूसरो को, समाज को या देश को क्या हानि हो रही है। जब एक दूकानदार घी या किसी खाद्य पदार्थ मे अशुद्ध चीज मिला कर बेचता है तब उसे तो अधिक से अधिक मुनाफा प्राप्त करने की चिन्ता रहती है, वह इस बात का विचार ही नही करता कि उस खाद्य

पदार्थ के उपभोग से खरीदारो के स्वास्थ्य पर क्या असर पड़ेगा। वह यह भी नही सोचता कि उसका कार्य धर्म के अनुसार कहाँ तक उचित है। अधिकाश दूकानदार तो यह समझते है कि व्यापार व्यवसाय मे धर्म का कोई स्थान ही नही है। यह भी उनकी भारी भूल है। हिन्दू धर्मशास्त्र की यह स्पष्ट आज्ञा है कि जिस कार्य मे धर्म और अर्थ का विरोध हो, जिस कार्य के करने मे धन तो प्राप्त होता हो परन्तु वह धर्म के अनुसार न हो, जिस कार्य से व्यक्ति का तो लाभ होता हो परन्तु समाज या देश की हानि होती हो तो उसे कदापि न करना चाहिए। विना अर्थ को धर्म के आधीन किए सुख और शान्ति नही मिल सकती।

जब एक महाजन किसी गरीब व्यक्ति से अत्यधिक सूद लेकर उसका खून चूसता है या एक जमीदार अपने किसी किसान से अत्यधिक लगान वसूल कर उसे बरबाद करता है या पूँजीपति गरीब मजदूर को कठिन परिश्रम करने पर भी इतनी मजदूरी नही देता जिससे उसको रूखा सूखा भरपेट भोजन मिल सके तो ये सब कार्य देश और समाज को बहुत हानि पहुँचाते है। इन सब कार्यो को करने वाले व्यक्ति अपने स्वार्थो के कारण इतने अधे हो जाते ह कि वे दूसरो के हितो की परवाह ही नही करते। उनमे उच्च विचारो का अभाव ही रहता है।

ससार मे प्राय चार प्रकार के व्यक्ति पाये जाते है। कुछ व्यक्ति तो ऐसे होते है जो दूसरो को लाभ पहुँचाने के लिए स्वय अपनी हानि उठाते है और कष्ट सहन करते है। वे आत्मत्यागी और परमार्थी है, उनका जीवन दूसरो के उपकार के लिए ही रहता है। इनकी सख्या हमेशा ही प्रत्येक देश और काल मे बहुत कम रहती है। दूसरी श्रेणी के व्यक्ति ऐसे होते है जो अपना स्वार्थ साधने मे हमेशा लगे रहते है, परन्तु साथ ही साथ दूसरो के स्वार्थ अर्थात् परमार्थ का भी हमेशा ध्यान रखते है। वे ऐसे कार्य कदापि नही करते जिनसे व्यक्तिगत लाभ होता हो, परन्तु दूसरो को हानि

होती हो। वे ऐसे ही कार्य करते है जिनसे व्यक्तिगत लाभ हो और दूसरो को, देश का तथा समाज का भी लाभ हो। ये स्वार्थ और परमार्थ एक साथ साधने का प्रयत्न करते है। ऐसे व्यक्ति के विचार उच्च रहते है और प्राय वे सादा जीवन व्यतीत करते है।

तीसरी श्रेणी मे ऐसे व्यक्ति रहते है जो अपने स्वार्थ मे इतने डूबे रहते है कि दूसरो के हितो की बिलकुल परवाह नही करते। अपने व्यक्तिगत थोडे से लाभ के लिए दूसरो को, देश को या समाज को भारी हानि पहुँचाने मे उनको किसी प्रकार की हिचकिचाहट नही होती। वर्तमान काल मे ऐसे ही व्यक्तियो की सख्या बहुत अधिक है और इसी कारण सर्वत्र सघर्ष, अशान्ति और दु ख छाया हुआ है।

चौथी श्रेणी मे ऐसे व्यक्ति रहते है जो दूसरो को हानि पहुचाने के लिए अपनी हानि उठाने के लिए तैयार रहते है। इस प्रकार के व्यक्तियो की सख्या यदि समाज मे बढ जाय तो फिर उसका पतन निश्चित है।

जब तक प्रथम दो श्रेणियो के व्यक्तियो की ससार मे, देश मे या समाज मे प्रधानता रहती है, उनको आदर मिलता है और उनको जनता या सरकार द्वारा प्रोत्साहन दिया जाता है तब तक ससार मे सर्वत्र शान्ति रहती है, देश और समाज की उत्तरोत्तर उन्नति होती जाती है और सब सुखी रहते है। परन्तु जब तीसरी श्रेणी के व्यक्तियो की सख्या बढने लगती है और प्रथम दो श्रेणी के व्यक्ति भोदू और बेवकूफ समझे जाते है और उनका तिरस्कार होने लगता है तब अशान्ति फैलने लगती है, राष्ट्रो मे पारस्परिक सघर्ष उपस्थित होने लगता है, गरीबो और पराजित व्यक्तियो का शोषण होने लगता है और सर्वत्र दुख की प्रधानता हो जाती है। आजकल उपर्युक्त तीसरी श्रेणी के व्यक्तियो की ही ससार मे तथा प्रत्येक देश में प्रधानता है और यही हमारी दुर्दशा का प्रधान कारण है।

यदि हम चाहते है कि वर्तमान विश्वव्यापी सकट दूर हो जाय और चिरस्थायी शान्ति स्थापित हो, महायुद्ध हमेशा के लिए बन्द हो जाय, ससार मे सब व्यक्ति अपना सुखमय जीवन व्यतीत करे तो हमारा यह कर्तव्य है कि हम इस प्रकार से प्रयत्न करे कि जिससे प्रथम दो श्रेणियो के व्यक्तियो की प्रधानता फिर से स्थापित हो जाय। प्रथम श्रेणी अर्थात् आत्मत्यागी और परोपकारी व्यक्तियो की सख्या तो बहुत अधिक नही बढ सकती, परन्तु यदि कोई साधारण व्यक्ति भी चाहे तो वह दूसरी श्रेणी मे आसानी से आ सकता है। और जब अधिकाश व्यक्ति दूसरी श्रेणी मे आने का प्रयत्न करने लगेगे तब उनकी अवश्य ही प्रधानता हो जायगी और ससार मे फिर से सुख और शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो जायगा। दूसरे श्रेणी के व्यक्तियो की विशेषता यह है कि वे अपना प्रत्येक कार्य करने मे दूसरो के हितो का उतना ही ध्यान रखते है जितना कि अपने हितो का रखते है। इसलिए जब वे कोई ऐसा कार्य करने का विचार करते है जिससे दूसरो की हानि होती है तो वे उस कार्य को नही करते। इससे पारस्परिक सघर्ष दूर हो जाता है और समाज तथा देश की उन्नति होने लगती है। इसलिए जो व्यक्ति दूसरी श्रेणी मे आना चाहता हो उसको अपने विचार उच्च रखना आवश्यक है। जब तक वह अपने स्वार्थो का ही ध्यान रखेगा और दूसरे के स्वार्थो की अवहेलना करता रहेगा तब तक उसके विचार उच्च नही हो सकेगे।

उच्च विचार के साथ ही साथ अपनी आर्थिक आवश्यकताओ का नियन्त्रण करना भी आवश्यक है। यदि आर्थिक आवश्यकताओ के नियत्रण करने की आदत न डाली गई तो वे तीव्र गति से बढने लगती है और उनकी पूर्ति करने के लिए अधिकाधिक धन की आवश्यकता पडती है। जब धन ऐसे साधनो से नही प्राप्त होता जिसके द्वारा दूसरो को हानि न हो तब उच्च विचार रखते हुए भी जान-बूझ कर ऐसे साधनो का

अवलम्बन लेना पड़ता है जिससे दूसरों को हानि होती है और व्यक्ति दूसरी श्रेणी से तीसरी श्रेणी में आ जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि जो सज्जन उच्च विचार रख अपना, देश और समाज का भला करना चाहता हो उसको अपनी आर्थिक आवश्यकताओं के नियंत्रण करने का अभ्यास करते रहना चाहिए, उसको सादा जीवन बिताने का संकल्प कर लेना चाहिए। इस विवेचन से अब यह स्पष्ट हो गया कि जो सज्जन सादा जीवन और उच्च विचार का आदर्श अपने सामने रखते हैं और उसी के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करते हैं वे ही अपना, अपने समाज, देश और संसार का भला कर सकते हैं। ऐसे व्यक्तियों की प्रधानता से ही संसार की शान्ति चिरस्थायी हो सकती है। इस घोर संकट के समय में सादा जीवन और उच्च विचार के इस भारतीय आदर्श का पालन ही संसार के कल्याण का एक मात्र उपाय है। संसार को भौतिक वाद के गड्ढे से निकालने के लिए भारत यही एक सर्वोत्तम उपाय उपस्थित करता है। क्या भौतिकवाद की सभ्यता में रँगे हुए सज्जन इस आदर्श को अपनाने का प्रयत्न करेंगे ?

अब मैं यह बतलाने का प्रयत्न करता हूँ कि सादा जीवन और उच्च विचार के आदर्श का पालन करने से किस प्रकार सुख और शान्ति की वृद्धि होती है और युद्ध की सम्भावना मिट जाती है। जब धन की उत्पत्ति करने वाला प्रत्येक व्यक्ति इस आदर्श का पालन करने लगेगा तब अधिक से अधिक मुनाफा कमाना ही उसका ध्येय नहीं रहेगा। वह ऐसा कार्य करेगा जिससे मजदूरों का शोषण बन्द हो जावेगा, उनको खूब मजदूरी मिलने लगेगी। पूँजीपति और मजदूरों में कोई हित-विरोध न रहेगा और गरीबी दूर होकर हड़तालों का नामनिशान मिट जायेगा। इस आदर्श के अनुसार चलने वाला प्रत्येक दूकानदार कभी भी अपने ग्राहक को ठगने का प्रयत्न न करेगा, वस्तुएँ बिना मिलावट के उचित मूल्य पर मिलने लगेगी। महाजन भी अत्यधिक सूद लेकर गरीब व्यक्तियों का खून न चूसेगा और जमीदार

अपने किसानो की हर तरह मे मदद करने लगेगा। तब फिर पूँजीपति और जमीदारो के अस्तित्व के मिटाने की भी आवश्यकता न रहेगी। साम्यवाद की आवश्यकता ही न रह जायगी। सब श्रेणी के लोग आपस मे मित्रता और प्रेम का व्यवहार करने लगेगे और कपट तथा बेईमानी का व्यवहार बन्द हो जायगा। सादा जीवन व्यतीत करने के कारण विलासिता और मादक वस्तुओ का उपयोग बन्द हो जावेगा। और सब लोग जीवन-रक्षक तथा निपुणतादायक पदार्थो का उपयोग अधिक मात्रा मे करने लगेगे। समाज की ऐसी व्यवस्था हो जायगी जिससे ऐसे व्यक्तियो को उचित दण्ड मिला करेगा जो अपने स्वार्थ के लिये दूसरो को हानि पहुँचाते है।

इस आदर्श के अनुसार चलने वाला प्रत्येक राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र को पराजित या शोषण करने का कभी प्रयत्न न करेगा, राष्ट्रो का पारस्परिक सघर्ष दूर हो जावेगा, राष्ट्र सघ की आवश्यकता न रहेगी और युद्ध की सभावना मिट जायगी। परन्तु ये बाते तभी होगी जब ससार के सब राष्ट्र इस आदर्श का पालन करना स्वीकार कर ले। इसके लिए इस आदर्श के पक्ष मे विश्वव्यापी आन्दोलन की आवश्यकता है।

कुछ लोगो का मत है कि इस बीसवी सदी मे भौतिकवाद के वातावरण मे सादा जीवन और उच्च विचार के आदर्श के अनुसार जीवन व्यतीत करना साधारण व्यक्ति के लिए सम्भव नही है। यह मत उन लोगो का हो सकता है जिन्होने इस आदर्श के अनुसार कार्य करने का कभी प्रयत्न ही नही किया। सादा जीवन का यह अर्थ नहीं है कि मनुष्य केवल लँगोटी लगाकर और भूखा रह कर अपना जीवन बितावे। उच्च विचार का यह अर्थ नही कि मनुष्य हमेशा वेदात सम्बन्धी बातो का ही विचार करता रहे। इस आदर्श के अनुसार कार्य करने मे केवल दो बातो की आवश्यकता है। प्रथम तो प्रत्येक व्यक्ति को जानबूझ कर अपनी आर्थिक आवश्यकताओ पर नियत्रण करना होता है, विलासिता की वस्तुएँ और मादक वस्तुओ का

उपयोग/बिलकुल बन्द कर देना होता है और दूसरे अपना प्रत्येक काय करते समय इस बात का विचार करना होता है कि उसका असर दूसरो पर बुरा तो नही पडेगा। यदि असर बुरा पडने वाला हो तो उसे त्याग देना होता है। ये दोनो बाते साधारण से साधारण व्यक्ति आसानी से कर सकता है यदि उसको इस आदर्श के पालन करने की इच्छा हो और वह अपने मन का दास न हो गया हो। बिना मन को वश मे किए तो ससार मे कोई भी अच्छा कार्य नही हो सकता। प्राचीन काल मे अधिकाश भारतवासी इसी आदर्श के अनुसार जीवन व्यतीत कर सुख और शान्ति प्राप्त करते थे। आजकल भी थोडे बहुत भारतवासी इस आदश के अनुसार अपना जीवन बिता रहे है। परन्तु अधिकाश भारतवासी इस आदश का महत्व जानते हुए भी इसके अनुसार कार्य नही कर रहे है। जो धनवान है वे तो विलासिता के चक्कर मे पड कर अपने धन का अपव्यय कर ही रहे है और मादक वस्तुओ का सेवन करके अपना स्वास्थ्य भी चौपट कर रहे है। परन्तु जो गरीब है उनमे से करोडो भारतवासी आधा पेट भोजन पाकर ही मादक वस्तुओ का उपयोग कर रहे है और कभी कभी विलासिता की वस्तुओ को भी खरीद लेते है। उच्च विचारो का तो अभाव-सा हो रहा है। अपने थोडे से लाभ के लिए हम लोग दूसरो की भारी हानि कर बैठते है। पाश्चात्य देशो मे तो इस आदर्श के अनुसार कार्य करने वालो की सख्या बहुत ही कम है।

स्थायी विश्व शाति के लिए, ससार मे सुख और शान्ति का अखड साम्राज्य स्थापित करने के लिए, प्रत्येक देश और समाज की सर्वाङ्गीण उत्तरोत्तर उन्नति के लिए, वर्तमान आर्थिक सकटो को दूर करने के लिए, हम लोगो को सादा जीवन और उच्च विचार के आदर्श के पक्ष मे विश्व-व्यापी आन्दोलन करना चाहिए। इस आन्दोलन का श्रीगणेश श्री गगाजी के पवित्र तट पर इस तीर्थ स्थान मे आज ही कर दीजिए। सादा जीवन और

उच्च विचार का आदर्श पालन करने का निश्चय कर लीजिए। उसका स्वय पालन कीजिए और अपने मित्रो को पालन करने के लिए उत्साहित कीजिए। भारत के प्रत्येक ग्राम और शहर मे, देश के कोने कोने मे सादा जीवन उच्च-विचार-समितियाँ स्थापित कीजिए और ऐसा प्रयत्न कीजिये जिससे पाच वर्षों के अन्दर भारत के अधिकाश व्यक्ति इस आदर्श के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करने लगे। यह कार्य सब से पहिले शिक्षित और धनवान व्यक्तियो द्वारा ही आरम्भ होना चाहिए। वे अपने जीवन द्वारा अशिक्षित और गरीब व्यक्तियो को दिखा देवे कि उच्च विचारो के साथ सादा जीवन किस प्रकार व्यतीत किया जाता है। धीरे धीरे अन्य लोग भी अनुकरण करने लगेगे और इस प्रकार भारत मे सर्वत्र इसका प्रचार हो जावेगा। भारत मे सफलता प्राप्त करने पर फिर दूसरे देशो मे इस आदर्श के पक्ष मे आन्दोलन किया जाय और ससार के अधिकाश व्यक्तियो के पास भारत का यह सन्देश भेजा जाय। मुझे विश्वास है कि वह समय शीघ्र ही आवेगा जब पाश्चात्य देशवासी भौतिकवाद के दुष्परिमाणो से ऊब कर अपनी गलतियो का अनुभव करने लगेगे तथा सादा जीवन और उच्च विचार के आदर्श को अपना कर स्थायी सुख-शान्ति का लाभ उठावेगे।